॥ श्रीहरिः ॥ 386▲

सत्सङ्ग-सुधा

गीताप्रेस गोरखपुर
GITA PRESS, GORAKHPUR

एक साधु

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ-संख्या
१- प्रार्थना	....	१
२- प्रभुके साथ सम्पर्क	....	११
३- इच्छाशक्ति या प्रभुकृपापर विश्वास	....	२९
४- चाहने योग्य सत्य वस्तु	....	३८
५- प्रभुका आदेश	....	४५
६- विचारोंका संयम	....	५०
७- मनकी सँभाल	....	५९
८- हमारा जगत्	....	६६
९- श्रद्धाका बीज बोयें	....	७५
१०- समयका सदुपयोग	....	८६
११- दुःखके कारण	....	९२
१२- काम या प्रेम	....	१०३
१३- दुःखनाशका अमोघ उपाय	....	११६
१४- भगवान्‌की ज्योति जगा लें	....	१२४
१५- प्रभुका आश्रय	....	१३५
१६- भगवान्‌का सम्बन्ध ही सच्चा सम्बन्ध है	....	१४३
१७- भगवान्‌की पूजा-आरती	....	१५३
१८- मानसिक विष और उसके त्यागके उपाय	....	१६३
१९- भयकी निवृत्ति	....	१७४
२०- शान्तिकी खोज	....	१८३

॥ श्रीहरिः ॥

निवेदन

इस पुस्तकमें प्रकाशित लेख हमारे एक अति निकटस्थ ऐसे साधुके द्वारा बड़े आग्रह करनेपर लिखे गये हैं, जो अपना नाम प्रकट नहीं करना चाहते। लेखोंमें 'भगवान्‌के विश्वास' की बड़ी ही महत्त्वपूर्ण बातें हैं। इनसे पाठकोंको विशेष लाभ उठाना चाहिये।

गोरखपुर
श्रावण-शु० १५, सं० २००९

हनुमानप्रसाद पोद्दार

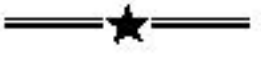

॥ श्रीहरिः ॥

सत्सङ्ग-सुधा

प्रार्थना

जिस समय हमारे चारों ओर विपत्तिके बादल मँड़राने लगते हैं, अन्धकार छा जाता है, कोई साथी नहीं रहता, पथ दिखानेवाला भी कोई नहीं होता, उस समय—यदि हमारे अन्दर थोड़ी भी आस्तिकता रहती है तो हम बरबस भगवान्‌की ओर मुड़कर पुकार उठते हैं—'नाथ! रक्षा करो, पथ दिखाओ।' तथा हममेंसे बहुतोंका यह अनुभव है कि पुकार लगते ही ऐसे विचित्र ढंगसे हमारी रक्षा हो जाती है कि जिसकी कल्पनातक नहीं हो सकती। ऐसा क्यों होता है? इसीलिये कि भगवान् अपने सम्पूर्ण ज्ञान, अनन्त सामर्थ्य, अनन्त सौहार्दको लिये नित्य हमारे साथ हैं, उनसे हृदयका संयोग होते ही उनकी सम्पूर्ण शक्ति हमारी आवश्यकता पूर्ण करनेके लिये प्रकट हो जाती है। जहाँ उनकी अप्रमेय शक्ति अपरिसीम सौहार्दको व्यक्त होनेका अवसर मिला कि काले बादल बिखर गये, निर्मल प्रकाश छा गया, भार हर लेनेवाले साथी आ पहुँचे, सुविस्तीर्ण निष्कण्टक पथ दीख गया तथा कृतज्ञतापूर्ण हृदयसे प्रभुके चरणोंमें सिर नवाकर हम गन्तव्यकी ओर चल पड़े।

किन्तु प्रभुसे हमारे हृदयका यह संयोग स्थायी नहीं हो पाता, इस क्षणके बाद हमारा जीवन भगवत्-प्रार्थनामय नहीं बन जाता। अनुकूल परिस्थिति आते ही हम प्रभुको भूलने लगते हैं, 'प्रभुकी प्रार्थना ऐसी अद्‌भुत चमत्कारकी वस्तु है' यह स्मृति भी हम धीरे-धीरे खो बैठते हैं।

इनसे भिन्न कुछ ऐसे प्राणी भी हैं, जो स्वाभाविक प्रायः भगवान्‌की

प्रार्थना करते हैं। उनमें सब तो नहीं, पर अधिकांश कैसी प्रार्थना करते हैं, यह विचारणीय है। संक्षेपमें कहनेपर उनकी प्रार्थनाका रूप यह है—'नाथ ! मुझे अमुक वस्तु दो, अमुक प्रकारसे दो और अमुक समयमें दो।' अर्थात् कौन-सी वस्तु मिले इसका निर्णय तो हम कर ही देते हैं। उस वस्तुकी प्राप्ति किस उपायसे हो तथा किस समय हो, यह भी हम ही पहलेसे उन्हें सूचित कर देते हैं। मानो भगवान्‌में यह ज्ञान नहीं कि वे हमारी यथार्थ आवश्यक वस्तुका निर्णय कर सकें, उसकी प्राप्तिका उपाय स्थिर कर सकें तथा ठीक समयपर हमें लाकर दे सकें। होना तो यह चाहिये कि हम प्रार्थना करें कि 'नाथ ! तुम्हारी जो इच्छा हो, वह मुझे दो, जिस प्रकारसे देना चाहो, उस प्रकारसे ही दो तथा जब देना चाहो तभी दो।' क्योंकि उनके समान या उनसे बढ़कर सर्वज्ञ तथा सर्वथा निर्मूल शुभचिन्तक हमारे लिये और कौन होगा; किन्तु यह न करके हम प्रभुके सामने अपनी क्षुद्र भावनाओंको ही रखते हैं। फिर भी यह प्रार्थनाकी श्रेणीमें अवश्य है, क्योंकि उस समय हमारे हृदयका प्रभुसे संयोग तो होता ही है। भगवान् ऐसी प्रार्थनासे नाराज बिलकुल नहीं होते, वे तो कभी भी किसीपर भी किसी कारणसे भी नाराज होते ही नहीं; किन्तु ऐसी प्रार्थनाओंका यथोचित परिणाम हमें तुरन्त मिल ही जाय यह निश्चित नहीं। वे सफल भी हो सकती हैं, नहीं भी; क्योंकि प्रभुके अनन्त मङ्गलमय विधानसे अविरोधी प्रार्थनाएँ ही तत्क्षण सफल होती हैं। जो प्रार्थीके लिये परिणाममें अहितकर प्रार्थनाएँ हैं, वे सफल नहीं होतीं। परम मङ्गलमयसे अमङ्गलका दान किसीको मिल जो नहीं सकता।

उपर्युक्त दोनोंसे अतिरिक्त कुछ ऐसे मनुष्य भी होते हैं, जो भगवान्‌से केवल भगवान्‌के लिये—भगवत्प्रेमके लिये ही प्रार्थना करते हैं। जगत्‌की किसी वस्तुकी चाह उनके मनमें नहीं होती।

विषयोंका प्रलोभन उन्हें जरा भी नहीं सताता। उनका हृदय सहज और सतत भगवान्‌से जुड़ा हुआ होता है।

इस तीसरी श्रेणीकी प्रार्थनामें तो प्रार्थीको कुछ सीखनेकी आवश्यकता नहीं होती, प्रार्थनाकी सारी विधियाँ उसकी प्रार्थनामें सहज ही वर्तमान रहती हैं। वास्तवमें सच्ची और कल्याणमयी भगवत्प्रार्थना है भी यही, मानव-जीवनकी सफलता भी इसी प्रार्थनामें है। क्षुद्र भोगोंके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करना तो भगवान्‌की कृपामयतापर, उनके परम मङ्गलमय विधानपर अविश्वासका ही द्योतक है। मानो भगवान्‌को हमारी चिन्ता नहीं, हमारी आवश्यक वस्तु वे हमें नहीं दे रहे हैं, ऐसी भावना हमारी अन्तश्चेतनामें छिपी होती है। फिर भी हमें तो वहाँसे आगे बढ़ना है, जहाँ हम खड़े हैं। यदि हम प्रभुपर सर्वथा निर्भर नहीं हो सकते तो पूर्ण निर्भरताका स्वाँग भरनेसे काम नहीं चलता, हमें तो अपने मानसिक धरातलके अनुरूप ही मार्ग अपनाना पड़ेगा। हममेंसे अधिकांश पूर्ण निर्भरताका मार्ग नहीं ग्रहण कर सकते, अतः पहलेकी दो प्रार्थनाओंको ही हमलोग अपनाते हैं; किन्तु इन दोनों प्रार्थनाओंमें भी कुछ जाननेयोग्य बातें हैं, उन्हें जानकर समझकर फिर की हुई प्रार्थना बड़ी मूल्यवान् होती है। वह प्रार्थना जीवनको नीचे स्तरसे उठाकर भगवान्‌के दिव्य आलोकमें पहुँचा देती है।

१—भगवान्‌से हम जिस वस्तुके लिये प्रार्थना करते हैं, उस वस्तुकी तीव्र चाह हमारे मनमें हो, यदि उस वस्तुके बिना भी हमारा काम किसी चीजसे चल जाता हुआ दीखता हो तो समझना चाहिये कि उस वस्तुकी तीव्र चाह हमारे मनमें नहीं है।

२—उस वस्तुको पाना ही है, यह दृढ़ निश्चय हो। यदि वस्तुकी प्राप्तिमें रह-रहकर उत्साह शिथिल पड़ जाता हो तो मानना चाहिये कि निश्चय दृढ़ नहीं है।

३—पूर्ण धैर्य हो। प्रार्थना आरम्भ करनेके बाद फल प्रकट होनेतक अधीरताकी छाया भी मनको न छू पावे, साथ ही फल प्रकट हुआ कि नहीं यह देखनेकी ओर वृत्ति ही न जाय। बीज बोकर जलसे सींचकर फिर तुरन्त ही उसे उखाड़कर देखा नहीं जाता कि बीजमें अङ्कुर लगा या नहीं।

४—प्रार्थनाका तार न टूटे। फल प्रकट होनेतक यथासाध्य अनवरत अविराम पूर्ण तत्परताके साथ प्रार्थना चलती रहे।

५—यह अखण्ड अविचल विश्वास मनमें निरन्तर जागरूक रहे कि प्रभु यहाँपर अवश्य हैं, यह वस्तु वे हमें दे सकते हैं, अवश्य देंगे। जो कोई भी उनके सामने जिस वस्तुके लिये उपस्थित होता है, उसे वे वह वस्तु अवश्य देते हैं। हमें भी वे अवश्य देंगे। हमें यह वस्तु निश्चय ही मिलेगी। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

६—किन्तु प्रार्थनाके समय प्रभुके समक्ष उस वस्तुके लिये रोना, रोनेकी आवश्यकता नहीं है। प्रार्थनाका रूप तो होना चाहिये—प्रभुसे हृदयका मिलन, हृदयका एकीकरण, प्रभुके रूपमें तन्मयता, अंशका अंशीमें मिल जाना; प्रभुके समग्र ऐश्वर्य, समग्र वीर्य, समग्र यश, समग्र श्री, समग्र ज्ञान और समग्र वैराग्यमें अपनी सत्ता खो देना। इस मिलनका आनुषङ्गिक परिणाम होगा इच्छाकी पूर्ति—इष्ट वस्तुकी प्राप्ति। कल्पना करें, गलित कुष्ठसे शरीर पीड़ित है अथवा भयानक फोड़ा होकर उसमें मवाद भर आया है, वेदनासे प्राण व्याकुल हैं। इनसे त्राण पानेके लिये हम प्रभुसे प्रार्थना करने चलें। अब यह नहीं कि हम अपने मानसिक नेत्रोंके सामने गलित कुष्ठका चित्र रखकर उसका चिन्तन आरम्भ करें, फोड़ेका विकराल रूप प्रभुके सामने रखें।

ऐसा करना तो प्रार्थनाकी पद्धतिसे दूर चले जाना है। हमें तो चाहिये कि हम प्रभुके उस निरामय स्वरूपका चिन्तन करें, जिसमें विकृति नहीं, अभाव नहीं, दुर्गन्ध नहीं, मलिनता नहीं; जो अनिन्द्य सुन्दर है, सर्वथा सर्व ओरसे सदा पूर्ण है, अनन्त सौरभका निवास है और जो परम दिव्य है। उनकी वह निरामय, मञ्जु, समग्र सुरभित, ज्योतिर्मय सत्ता हमारे शरीरके अणु-अणुमें व्याप्त है, ऐसी दृढ़ भावना हम बार-बार करें। प्रभुसे अनुप्राणित हमारे इस शरीरका अणु-अणु रोगसे शून्य, मनोहर, सुन्दर, नित्य पूर्ण, सुवासमय, एक चिन्मय ज्योतिसे उद्भासित हो रहा है, ऐसा अनुभव करनेका बारम्बार हम प्रयास करें। कुष्ठकी, फोड़ेकी हमें सर्वथा विस्मृति हो जाय; उसके स्थानपर अविकारी, सम्पूर्ण, नित्य रुचिर, सुरभिमय, परमोज्ज्वल प्रभुकी सत्ता व्यक्त दीखने लगे, ऐसी चेष्टा हमारी हो। विश्वास एवं लगनके साथ ऐसी धारणा करनेपर ऐसी भावना हो जाना कठिन नहीं है। तथा भावना दृढ़ हुई कि प्रभुका दिव्य चमत्कार हमारे अनजानमें ही उस गले शरीरपर, फोड़ेसे व्याकुल त्वचापर प्रकट हो जायगा। यह कल्पना नहीं, ध्रुव सत्य है। भारतीय शास्त्र तो ऐसे अगणित प्रमाणोंसे भरे हैं ही। आज भी ऐसी घटनाएँ प्रत्यक्ष होती हैं। इस विज्ञानयुगके प्रतिभाशाली विज्ञानवेत्ताओंकी दृष्टिके सामने भी होती हैं, हुई हैं। नोबेल पुरस्कार-विजेता, संसारप्रसिद्ध वैज्ञानिक एवं सर्जन डॉक्टर अलेक्सिस कारेलका कहना है कि उन्होंने स्वयं आँखोंसे देखा है—एकमात्र केवल प्रार्थनासे कुछ ही क्षणोंमें मुँहके घाव, शरीरके अन्य घाव, कैंसर, मूत्राशयके रोग और यक्ष्मा आदि रोगोंसे पीड़ित रोगियोंके ये रोग मिट गये हैं।

अच्छा, रोगसे मुक्त होनेकी बात तो ठीक। हमें तो धन चाहिये। घरमें युवती कन्या है, उसका विवाह करना है, पर भरपेट भोजनके

लिये अन्न नहीं है, शरीर ढकनेके लिये पर्याप्त वस्त्र नहीं है। क्या भगवत्-प्रार्थनामात्रसे हमें धन मिल जायगा ? अवश्य मिल जायगा, किन्तु प्रार्थना ठीक-ठीक होनी चाहिये। अन्य आवश्यक बातोंके साथ-साथ हमें प्रार्थनाके समय अपनी दरिद्रताकी भावना, अपनी गिरी हुई स्थितिकी स्मृति मिटा देनी होगी। उसके स्थानपर हम प्रभुके सर्वसम्पन्नमय रूप, अनन्त श्रीसम्पन्न सत्ताका स्मरण करें, उसमें अपना मन डुबा दें। 'यह अनन्त आकाश, अपरिसीम सागर, विस्तीर्ण भूभाग, ऊँची पर्वतमालाएँ, नदी-निर्झर, सरोवर, वन, उपवन, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, भृङ्ग, सोना, रूपा, हीरा, मोती, नीलम, पन्ना, पुखराज—इन अगणित वैभवोंके निर्माण करनेवाले जो प्रभु हमारे अन्दर नित्य वर्तमान हैं, उनमें अपने मनको लीन करें। हम ऐसी भावना करें कि प्रभुका अनन्त वैभव हमारे चारों ओर फैला हुआ है, उसपर हमारा अधिकार है, क्योंकि हम तो उनके हैं। भगवान्‌के नेत्रोंसे यह स्पष्ट अनुभव करें कि प्रभुकी अनन्त विभूति हमें तो प्राप्त ही है। हमारे लिये तो किसी अभावकी कल्पना ही नहीं है। विश्वासपूर्वक यदि वास्तवमें हम ऐसी भावना दृढ़ कर सकें तो निश्चित है हमारे लिये आवश्यक इच्छित धनकी व्यवस्था प्रभुके विधानसे होकर ही रहेगी।

सारांश यह कि हम जो वस्तु चाहते हैं उसके अभावकी ओरसे वृत्तियोंको हटाकर यह वस्तु जिन प्रभुमें पूर्णरूपसे नित्य वर्तमान है, उनमें केन्द्रित करें। हम अमुक वस्तु नहीं है, अमुक नहीं हैं, इस प्रकारके चिन्तनसे विरत होकर जहाँ हमारी चाहकी वस्तु पूर्णरूपमें सदा अवस्थित है, उसका चिन्तन करें।

७—यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि विश्वस्रष्टा प्रभुके ही हम एक अंश हैं। अतः प्रभुके गुण हममें भी अंशरूपसे अवश्य वर्तमान हैं।

प्रभुने सृष्टिसे पूर्व यह सङ्कल्प किया—**'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय'** मैं एक ही बहुत हो जाऊँ। इस चिन्तन—सङ्कल्पका परिणाम यह हुआ कि यह विशाल विश्व सृष्ट हुआ, मूर्त हो गया। तो चिन्तनके द्वारा वस्तुका निर्माण करनेकी शक्ति हमारे अन्दर भी अवश्य है, क्योंकि हम विश्वस्रष्टाके अंश जो ठहरे। इसीलिये हम भी चिन्तनके द्वारा अपने लिये वस्तुका निर्माण कर सकते हैं; करते हैं। यह नियम है। हमारे प्रत्येक विचार मनसे सृष्ट होनेपर बाहर भी उसके अनुरूप ही आकार धारण करते हैं। यदि प्रार्थनाके समय हम अभावका, मलिनताका ही चिन्तन करें—'नाथ ! देखो, इस वस्तुके अभावमें मुझे कितना कष्ट हो रहा है, हाय ! मेरी कैसी गिरी दशा है।' इन भावोंकी ही आवृत्ति करते रहें तो अभावजन्य व्यथाकी, पतनकी मूर्तियाँ ही निर्मित होंगी तथा प्रभुकी पूर्ण परम सौन्दर्यमयी सत्तासे हमारे हृदयका क्षणिक संयोग होकर भी ये विचारकी अशुभ मूर्तियाँ बीचमें व्यवधान बनती जायँगी। पर ठीक इससे विपरीत यदि हम प्रार्थनाके समय ऐसा चिन्तन आरम्भ करें—'हमें तो सब कुछ प्राप्त है, हमारा सब कुछ सुन्दर है, नाथ ! तुम्हारी कृपासे मैं कितने आनन्दमें हूँ; किस प्रकार मैं प्रतिक्षण ऊपर उठ रहा हूँ।' ऐसे विचारके समय महामहिम प्रभुसे हमारा संयोग तो हो ही रहा है, साथ ही इष्टप्राप्तिजन्य सुखकी, उत्थानकी शुभ मूर्तियाँ भी निर्मित हो रही हैं। विचारोंसे निर्मित ये शुभ मूर्तियाँ हमारे लिये सहायक बनती जा रही हैं। करुणासागर भगवान्‌की ओरसे जो कृपाकी लहरें हमारी ओर आती रहती हैं, उन्हें ये मूर्तियाँ बड़े वेगसे आकर्षित करने लगती हैं। देखते-ही-देखते हमारे शुभ विचार भगवान्‌के मङ्गलमय विधानसे जुड़ जाते हैं तथा फिर हमारे लिये बाहर एक शुभसे पूर्ण संसार मूर्त हो जाता है। तुरन्त ही वे प्रतिकूल परिस्थितियाँ मिट जाती हैं तथा उनके

स्थानपर हमारी मनोवाञ्छित परिस्थिति प्रकट हो जाती है। कहनेका तात्पर्य यह कि किसी वस्तुके लिये प्रार्थना करनेपर हमारे अन्दर जो विचारके द्वारा वस्तु-निर्माण करनेकी शक्ति है, इसको भी सहायक बना लेना चाहिये। यह बाधक न बन जाय इस बातसे सावधान रहना चाहिये। हर्ष, उत्थान, पूर्णता आदिकी भावना करना अपनी उस शक्तिको सहायक बना लेना है और विषाद, निराशा, शोक तथा दुःखकी भावना करना उन्हें बाधक बना लेना है।

८—प्रार्थनासे पूर्व धीरतापूर्वक हमें विचार कर लेना चाहिये कि हमारी इच्छित वस्तु, जिसके लिये हम प्रार्थना करने जा रहे हैं, कहीं दूसरेके हितकी विरोधी वस्तु तो नहीं है ? मान लें यह इच्छा उत्पन्न हुई कि 'हमारे अमुक शत्रुका विनाश हो जाय' तथा इस इच्छाकी पूर्तिके लिये हम प्रार्थना करने चलें—तो इसकी पूर्तिके लिये प्रार्थनाका आधार हमें भगवान्‌में कदापि नहीं मिलेगा। हम अपने भ्रान्त मलिन मनसे प्रभुमें ऐसे आधारका आरोप कर लें यह बात दूसरी है, पर वास्तवमें ऐसी प्रार्थनाके लिये आश्रय भगवान्‌में है ही नहीं। प्रभुमें किसीके भी प्रति शत्रुत्व अथवा द्वेषकी कल्पना ही जो नहीं है। उनकी दृष्टिमें उनके सिवा और है ही क्या जिसके प्रति वे द्वेष करें। अपने-आपके ही प्रति किसीका द्वेष होता है क्या ? अतः ऐसी प्रार्थना करनेवालेको तो निराश ही होना पड़ेगा। काकतालीय-न्यायसे कोई घटना घट जाय और हम उसे अपनी प्रार्थनासे हुई मान लें तो यह तो हमारी बुद्धिका भ्रम है। वास्तवमें भगवान्‌में ऐसी प्रार्थनाका बीजतक टिकनेका स्थान नहीं है। हमें चाहिये कि यदि ऐसी इच्छा हमारे मनमें कभी जाग्रत् हो तो उस इच्छामें हम पहलेसे ही सुधार कर लें। हम यह इच्छा करें कि हमारा वह विरोधी, जिसे हम शत्रु मानते हैं, उसका

हृदय विशुद्ध हो जाय और वह हमसे प्रेम करने लगे तथा इस इच्छाकी पूर्तिके लिये हम प्रार्थना करने चलें। प्रार्थनाकी यही कुञ्जी अपना लें। अनन्त प्रेमार्णव प्रभुमें मनको तन्मय कर दें। यह भावना करें, विश्वके अणु-अणुमें प्रभुका प्रेम भरा है, अणु-अणुसे दिव्य प्रेम झर रहा है, मेरे हृदयमें प्रेमकी सरिता प्रवाहित हो रही है, मेरे चारों ओर प्रेमका सागर हिलोरें ले रहा है। कोई शब्द सुन पड़े तो भावना करें कि 'ओह ! प्रभुके प्रेमसे सना यह शब्द कितना मधुर है।' कैसा भी स्पर्श प्राप्त हो, सोचें, 'ओह ! कितना प्रेमिल स्पर्श है।' कैसा भी रूप क्यों न दीखे, अनुभव करे कि 'ओह ! प्रभुका प्रेम तो इस रूपके अणु-अणुमें व्याप्त है।' रसनेन्द्रियको जिस रसकी अनुभूति हो, नासिकाका जिस गन्धसे संयोग हो, सोचें—'इस रसमें, इस गन्धमें प्रभुका दिव्य प्रेम ही तो ओतप्रोत है।' फिर हम देखेंगे हमारे उस विरोधीमें, जिसका हम विनाश चाहते थे, प्रेममय प्रभुका चमत्कार प्रकट हो गया है। हमारी प्रार्थना सफल हो गयी है।

इसका निष्कर्ष यह है, पर-हित-विरोधी अपवित्र इच्छामें सुधार करके उसे प्रभुसे जुड़नेलायक पवित्र बनाकर फिर हम प्रार्थना करें।

९—मनसे यह धारणा निकाल दें कि प्रभु हमारी प्रार्थनासे दबकर हमारी इच्छाकी पूर्तिके लिये (जैसे खुशामदसे राजी होकर यहाँका अफसर कर देता है वैसे) अपने परम मङ्गलमय विधानमें हेर-फेर कर देंगे। प्रभुका मङ्गलमय विधान तो निश्चित है; अनादि कालसे निश्चित क्रमसे क्रियाशील है, अनन्त कालतक निश्चित क्रमसे क्रियाशील रहेगा। इसमें हेर-फेर वे प्रायः नहीं करते। हेर-फेर तो हमारी इच्छामें होकर हमारी इच्छाका उसके मङ्गलमय विधानके अनुकूल हो जाना आवश्यक है तभी उस इच्छाकी पूर्ति सम्भव है।

१०—प्रार्थनासे पूर्व हम अपनी इच्छित वस्तुको कुछ देरके लिये प्रसन्नचित्तसे पूर्ण एकाग्रतासे स्मरण करते रहें, फिर अपनी भाषामें

भगवान्‌के तत्सम्बन्धी रूपका निरूपण एवं मनन तथा भावना आरम्भ करें। किसीसे सीखी हुई भाषामें प्रार्थना करनेपर उनमें प्रायः कुछ-न-कुछ कृत्रिमता आ ही जाती है, जो प्रभुसे हृदयका शीघ्र संयोग होनेमें आवरणका-सा काम करने लगती है। इसीलिये अपनी स्वाभाविक भाषाका प्रयोग ही वाञ्छनीय है।

११—हम इच्छा-पूर्तिकी अवधि, पूर्तिके प्रकार प्रभुके लिये निर्धारित न कर दें। हमारी वह इच्छित वस्तु कब मिलेगी, किस प्रकार मिलेगी, ये दोनों बातें हम सर्वथा प्रभुकी मङ्गलमयी इच्छापर ही छोड़ दें।

१२—जहाँतक अधिक-से-अधिक सम्भव हो, हम प्रार्थना करते रहें, पर यह बात प्रभुके अतिरिक्त किसी भी दूसरेपर प्रकट न होने पावे।

उपर्युक्त बारह बातोंपर ध्यान रखकर इच्छितकी प्राप्तिके लिये हम यदि प्रार्थना करते हैं तो तत्काल लाभ हमें मिलता ही है। केवल मनचाही वस्तु हमें मिल जाय, इतना ही नहीं, क्रमशः हमारे हृदय-मन-प्राणमें प्रभुकी दिव्य ज्योति भरने लगती है। ये आलोकित हो उठते हैं। यह आलोक एक दिन हमें अपने अन्दर नित्य अवस्थित प्रभुके मन्दिरका दर्शन करा देता है। बस, यहींसे हमारी सच्ची प्रार्थना—भगवान्‌से भगवान्‌के लिये—भगवत्प्रेमके लिये प्रार्थना आरम्भ होता है। फिर तो हमारे मनकी समस्त वृत्तियाँ सब ओरसे सिमटकर प्रभुके दिव्य मन्दिरकी ओर ही केन्द्रित हो जाती हैं। कदाचित् कोई वृत्ति किसीकी करुण पुकार सुनकर पीछेकी ओर मुड़ती है तो उस समय हम पुकार उठते हैं—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

'हे नाथ! सभी सुखी हों, सभी रोगरहित हों, सभी कल्याणके दर्शन करें, दुःखका भागी कोई भी न बने।'

प्रभुके साथ सम्पर्क

किसी भी भावसे हम प्रभुकी ओर मुड़ें, हमारा परम कल्याण ही होगा। यदि हम अपने स्वरूपको जानकर प्रभुके साथ हमारा जो सम्बन्ध है, उसे समझकर हम उनकी ओर बढ़ें तो सर्वोत्तम बात है ही; किन्तु यह सब कुछ भी न जानकर किसी सांसारिक दुःखसे ही व्याकुल हुए, उस दुःखसे त्राण पानेकी इच्छासे ही अथवा किसी लौकिक अभीष्ट वस्तुकी प्राप्तिको ही उद्देश्य बनाकर हम उन्हें अपने मनमें स्थान देने लगें, तब भी हम एक-न-एक दिन उनसे अवश्य जा मिलेंगे। इसमें तनिक भी सन्देहके लिये स्थान नहीं है।

आजके युगमें, जब कि हमारा मानसिक धरातल अत्यन्त नीचा हो गया है, अतिशय संकुचित विचारोंसे हमारा मन भरा हुआ है, हम यह आशा करें कि हमको पहले अपने स्वरूपका ज्ञान हो जाय, प्रभुके साथ अपने सम्बन्धका भान होने लग जाय, तब इसके बाद हम जड जगत्‌से ऊपर उठकर, निष्काम होकर केवल प्रेमके लिये ही प्रभुसे प्रेम करें, भजनेके लिये ही उन्हें भजें तो यह आशा केवल दुराशामात्र सिद्ध होगी। ऐसा हो जाय, यह कौन नहीं चाहेगा। प्रभुकी उपासनाका, भजनका, प्रार्थनाका आदर्श तो यही है। पर सर्वसाधारणके लिये इस आदर्शका अनुसरण सम्भव नहीं दीखता। कहनेको तो हममें हजारों ऐसे हैं जो आत्मज्ञानी होनेका दम भरते हैं, किन्तु हजारोंमेंसे किसी एकको भी वास्तवमें स्वरूपज्ञान है या नहीं, यह कहना कठिन है; क्योंकि यदि सचमुच ही स्वरूपज्ञान हो गया होता तो हममेंसे प्रायः एक-एककी ऐसी भेड़ियाधसान गति सर्वथा नीचेकी ओर—अधिक-से-अधिक केवल

सांसारिक सुख ही बटोरनेकी ओर प्रवृत्ति कदापि न होती। अपने इस शरीरको आराम देनेके पीछे, अथवा शारीरिक कष्ट उठाकर भी अपने इस कल्पित नामकी झूठी ख्याति समाजमें, देशमें, संसारमें फैलानेके पीछे हम पागल-से नहीं बन गये होते। स्वरूपका ज्ञान होनेपर यह सम्भव ही नहीं कि एक ओर तो हम धर्माचरण करनेका, दान-पुण्य करनेका, देश-सेवा तथा समाज-सेवा करनेका, गरीब-दुःखियोंको सुख पहुँचानेका, तीर्थ-सेवनका और ईश्वर-भक्तिसम्बन्धी विविध कर्मोंका अभिनय करें तथा दूसरी ओर धन बटोरनेके जितने भी अन्यायपूर्ण, पापपूर्ण साधन हैं, उनमें घृणा-लज्जा आदि सर्वथा छोड़कर उन सबको सदा अपनाये रखें। विश्वविद्यालयकी दार्शनिक कक्षाओंमें, वेदान्तकी पाठशालाओंमें आत्माके स्वरूपपर विचार कर लेना, पाठ पढ़ लेना तथा भरी सभामें जनताके समक्ष आत्मज्ञानकी महत्ता और त्यागकी प्रशंसाके पुल बाँधते हुए मनोरञ्जक सुन्दर-से-सुन्दर प्रवचन कर देना सहज है। ऐसा मौखिक स्वरूप-ज्ञान, शास्त्रीय ज्ञान और दिखाऊ वैराग्य तो हममेंसे बहुतोंको है; परन्तु यहाँ प्रस्तुत प्रसङ्गमें ऐसे ढुलमुल, कथनमात्रके ज्ञान-वैराग्यसे तात्पर्य नहीं है। यहाँ तो उस यथार्थ स्वरूप-ज्ञानसे मतलब है, जिसके आलोकमें बुद्धि यह दृढ़ निश्चय कर लेती है, मन सचमुच यह स्वीकार कर लेता है—

जन्माद्याः षडिमे भावा दृष्टा देहस्य नात्मनः।
फलानामिव वृक्षस्य कालेनेश्वरमूर्तिना॥
आत्मा नित्योऽव्ययः शुद्ध एकः क्षेत्रज्ञ आश्रयः।
अविक्रियः स्वदृग् हेतुर्व्यापकोऽसङ्ग्यनावृतः॥

(श्रीमद्भा० ७।७।१८-१९)

'जन्म, अस्तित्वकी प्रतीति, वृद्धि, परिणाम, क्षय और विनाश—

छः विकार देहके हैं; देहमें ही दीखते हैं; ये आत्मामें नहीं हैं। आत्मासे, हमारे स्वरूपसे इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे कालभगवान्‌की प्रेरणासे वृक्षोंमें प्रतिवर्ष फल लगते हैं, फलोंके अस्तित्वका अनुभव होता है, वे बढ़ते हैं, पकते हैं, क्षीण होते हैं और फिर नष्ट हो जाते हैं। वृक्ष ज्यों-का-त्यों सदा बना रहता है, वैसे ही जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त छहों विकार देहके ही होते हैं, आत्माके नहीं, आत्मा तो सदा एकरस बना रहता है।* इस प्रकार शरीरके धर्मोंकी दृष्टिसे तो आत्मा विलक्षण है ही, स्वरूपगत धर्मोंके कारण भी वह शरीरसे सर्वथा भिन्न है। आत्मा नित्य है, उत्पत्ति-विनाशरूप दो विकारोंसे रहित है, पर यह शरीर अनित्य है, उत्पत्ति-विनाशयुक्त है; आत्मा अव्यय है, क्षय नामक विकारसे रहित है और शरीर क्षयसे युक्त है। आत्मा अविक्रिय—अस्तित्व, वृद्धि, परिणाम—इन तीनों विकारोंसे भी सर्वथा रहित है, शरीर इन तीनों विकारोंसे युक्त है; आत्मा शुद्ध है, शरीर मलिन है; आत्मा एक है, शरीर अनेक; आत्मा क्षेत्रज्ञ—ज्ञाता है, शरीर जड क्षेत्र है; आत्मा आश्रय है, शरीर उसके आश्रित है; आत्मा स्वयं-प्रकाश है, शरीर परप्रकाशित है; आत्मा कारण है, शरीर कार्य है; आत्मा व्यापक है, शरीर व्याप्य है; आत्मा असङ्ग है, शरीर संसक्त है और आत्मा निरावरण है एवं शरीर है आवरणरूप।'

—ऐसा निश्चय, ऐसी स्वीकृति हो जानेपर, आत्माके उपर्युक्त बारह उत्कृष्ट लक्षणोंको सचमुच हृदयङ्गम कर लेनेपर अनिवार्य परिणाम यह होता है कि देह आदिमें अज्ञानजनित 'मैं' एवं 'मेरा' जो

---

* वृक्षसे आत्माकी तुलना भी यहाँ आंशिकरूपसे ही समझनी चाहिये; क्योंकि वास्तवमें तो वृक्ष भी षड्विकारयुक्त है और आत्मा सर्वथा विकाररहित। आत्माकी तुलनाके योग्य तो असलमें अन्य कोई वस्तु ही नहीं है।

मिथ्या भाव है, उन्हें हम छोड़ देते हैं, छोड़ ही देना चाहिये—

एतैर्द्वादशभिर्विद्वानात्मनो लक्षणैः परैः ।
अहं ममेत्यसद्भावं देहादौ मोहजं त्यजेत् ॥

(श्रीमद्भा० ७।७।२०)

शरीर आदिमेंसे 'मैं', 'मेरा' निकालने भरकी देर है। फिर तो प्रभुके साथ हमारा जो नित्य सम्बन्ध है, उसका ज्ञान भी हमें उसी क्षण स्पष्ट हो जाता है। इसके बाद अनन्त लीलामय प्रभुकी इच्छासे हमारे लिये दो मार्ग बन जाते हैं। या तो प्रभुका चिदानन्दसिन्धु उमड़ता है, उसमें भक्तिरसकी बाढ़ आ जाती है और उसमें डूबकर हम कृतार्थ होते हैं। शास्त्रीय भाषामें इसे भक्तिनिष्ठाका मार्ग कहते हैं। अथवा प्रभुकी चिदानन्द-ज्योति हमारे कण-कणको उद्भासित कर हमें आत्मसात् कर लेती है। उससे एक होकर उसीमें हम सदाके लिये विलीन हो जाते हैं। यह ज्ञाननिष्ठाका पथ है।

स्वरूपज्ञान, इस ज्ञानका आनुषङ्गिक फल देहादिमें 'मैं', 'मेरा' इन मिथ्या भावोंका नाश, प्रभुके साथ अपने सम्बन्धका स्फुरण, फिर भक्ति या ज्ञानका प्रादुर्भाव—यह एक क्रम हुआ। अब हम सोचकर देखें स्वरूपज्ञानसे आगेकी तो बात दूर, मन-बुद्धिमें सचमुच उतरा हुआ ऐसा स्वरूप-ज्ञान भी हममेंसे कितनोंको है ? कहना पड़ेगा कि ऐसे इने-गिने उदाहरण ही मिलेंगे। किन्तु इसे भी जाने दें इतनी गम्भीरतासे इतने सूक्ष्म विचारके उपरान्त आत्मस्वरूपका निश्चय करके उसमें स्थित होनेकी बात छोड़ दें। केवल सरल विश्वास-मूलक स्वरूपज्ञान भी कितनोंको है, यह देखें। हम देह नहीं, प्रभुके सनातन अंश हैं, उनके चिदानन्दसागरकी एक बूँद हैं, उनसे मिलनेका हमारा नित्यसिद्ध अधिकार है। उनसे मिलकर ही हम कृतार्थ हो सकेंगे, इतना-सा ज्ञान भी हममेंसे कितने व्यक्तियोंके पास है ? शास्त्रको पढ़कर, अनुभवी

पुरुषोंसे सुनकर इतना-सा विश्वास करनेवाले भी हममें आज कितने हैं ? वर्तमान भूगोलपर हम जितने मनुष्य हैं, उनमें कितने ऐसे हैं, जो प्रभुकी उपासनाको आवश्यक कर्तव्य अनुभव करते हैं ? उपासनाके लिये ही हम उपासना करें, किसी कामनासे प्रेरित होकर नहीं, ऐसी मान्यता, यह सिद्धान्त कितने मनुष्योंका है ? विचार करनेपर यही निर्णय होगा कि ऐसे पुरुषोंकी संख्या बहुत ही कम है। अतएव इस परिस्थितिमें श्रेयस्कर मार्ग यही है कि जिस किसी भी भावसे हो, एक बार हम प्रभुकी ओर झुकें। एक बार उन्हें अपने मनमें स्थान दें तो सही। किसी भी निमित्तसे यदि वे एक बार हमारे मनमें आ गये तो अपने आलोककी अमिट छाप तो वे छोड़ ही जायँगे ! और क्या पता उनकी यही क्षुद्र-सी ज्योति किसी अनुकूल वातावरणका आधार पाकर ऐसी चमक उठे कि हमारा सारा अन्धकार सदाके लिये दूर हो जाय, हम अज्ञान-निद्रासे जग उठें तथा जीवन कुछ-से-कुछ हो जाय।

आज सर्वत्र दुःख-दैन्यकी भरमार है। लाखोंमें, शायद ही एक व्यक्ति ऐसा मिलेगा, जो छातीपर हाथ रखकर यह कह सके कि मुझे कोई दुःख नहीं। अन्यथा कुछ-न-कुछ दुःख सबके पीछे लगा है। शरीर व्याधिसे ग्रस्त है, पुत्र-कलत्र, बन्धु-बान्धवमेंसे कोई-न-कोई मनके प्रतिकूल हैं, धनका अभाव है, सम्मान नहीं मिल रहा है। हमारा देश दरिद्र है, जगत्का सुधार कैसे हो—ऐसे न जाने कितने कारण हैं कि जो हमें दुःखी बनाये रखते हैं। इन दुःखोंसे छूटनेके लिये हम कम प्रयास करते हों, यह बात भी नहीं। अपनी जितनी शक्ति है, सब खर्च कर देते हैं। फिर भी दुःखोंसे मुक्त नहीं हो पाते। कहीं एक मिटता है, तो दो नये खड़े हो जाते ! अब कदाचित् इन दुःखोंसे त्राण पानेके लिये भी हम प्रभुकी ओर मुड़ सकते, तो भी निहाल हो जाते। पर यह भी हम नहीं करते। शरीर रुग्ण होनेपर डाक्टर-वैद्योंके पीछे अनाप-शनाप

धन खर्च करेंगे, उनकी बतायी हुई ओषधियोंका आँख मूँदकर सेवन कर लेंगे, किन्तु एक बारके लिये भी यह मनमें नहीं आता कि सच्चे मनसे सरल विश्वासके साथ उन प्रभुको तो पुकार कर देखें कि जिन प्रभुके अनन्त ज्ञानसागरकी एक बूँदसे विश्वमें ज्ञानका संचार होता है; जगत्‌में जितने डाक्टर-वैद्य थे, हैं और होंगे, उन सबमें रोग-निदान करनेका समस्त ज्ञान, जिनके उस बिन्दुमात्र ज्ञानसे ही आता है, जिनकी अपरिसीम शक्तिके एक क्षुद्र कणसे ही जगत्‌की समस्त ओषधियोंमें रोग-नाश करनेकी शक्ति आती है, उन प्रभुके प्रति तो हम विश्वास नहीं कर पाते और डाक्टर-वैद्योंपर, ओषधियोंपर विश्वास कर लेते हैं। कई बार तो हम अपने इस अविश्वासको भ्रमवश अपनी निष्कामताका नाम दे देते हैं, कह बैठते हैं कि 'प्रभुसे रोग-मुक्तिके लिये प्रार्थना क्या करें, उसके लिये तो प्रभुने ओषधि-सेवनका विधान किया ही है।' बात भी ठीक है। पर यह बात तो उन्हें शोभा देती है कि जिनका जीवन सचमुच सर्वथा प्रभुको समर्पित हो चुका है, जिनके व्यावहारिक जीवनमें अनाचार-दुराचारकी छाया भी नहीं है, जो कभी किसी भी परिस्थितिमें प्रभुसे कुछ भी याचना नहीं करते। किन्तु जब हमारा जीवन पापोंसे पूर्ण है, पद-पदपर हम अपने व्यवहारमें अवैध उपायोंका आश्रय ग्रहण करते हैं, प्रभुकी बाँधी मर्यादाको तोड़ते हैं, तब यह आदर्शवाद हमारे लिये क्या मूल्य रखेगा ? जो हो, हमारा अविश्वास ही हमें प्रभुके सम्मुख जानेसे रोकता है। इसी प्रकार धनके लिये, मानके लिये, अपनी अभीष्ट वस्तुको प्राप्त करनेके लिये हम जगत्‌की खाक छान डालेंगे, जो कभी नहीं करना चाहिये, यह सब करनेमें तनिक भी संकुचित नहीं होंगे, बुरे-से-बुरे अनाचार और निषिद्ध आचरणका आश्रय ले लेंगे; पर यह सारा जगत् जिनके अनन्त वैभवके किसी क्षुद्र अंशकी छायामात्र है, उन प्रभुके द्वारपर जानेका

विचारतक मनमें उदय नहीं होगा। इसे हम इस युगका अभिशाप कहें या अपनी बुद्धिकी जडता ! कुछ भी कहें—आज हमारी दशा तो यही हो रही है !

अब जैसे भी हो, इस पतनके गड्ढेसे हमें ऊपर उठना है। जितना शीघ्र चेत जायँ उतना ही कल्याणकर है। अन्यथा हमारे दुःख घटनेके बदले दिनोंदिन अधिकाधिक बढ़ते ही जायँगे। जबतक निरामय प्रभुकी शक्तिको हम स्पर्श नहीं करेंगे, तबतक हमारे रोग मिटनेके ही नहीं हैं, भले ही हजारों अस्पताल खुल जायँ, सैकड़ों नवीन ओषधियोंका आविष्कार हो जाय। जबतक हमारा मन प्रभुकी एकरस अखण्ड शान्तिको किसी भी अंशमें छूने नहीं लगेगा, तबतक यहाँके समस्त साधन हमारे हृदयकी ज्वालाको बुझानेमें व्यर्थ ही सिद्ध होंगे।

ओषधियोंका, चिकित्साका, जागतिक साधनोंका विरोध नहीं है; क्योंकि वे भी तो भगवान्‌से ही आये हैं। उनकी भी अपने स्थानपर उपयोगिता है ही। उनकी सहायता लेनी चाहिये, किन्तु उसीके साथ-साथ हम ऐसी चिकित्सा क्यों न करें जो यहाँके समस्त रोगोंपर, दुःखोंपर तो अव्यर्थ सिद्ध हो ही, लगे हाथ हमारे भवरोगको भी शान्त कर दे, अनादिकालसे हम जो जल रहे हैं, उस जलनको भी मिटाकर हमें स्थायी, शाश्वती शान्ति प्रदान कर दे। हमारे ज्योतिहीन नेत्रोंमें श्रद्धाकी ज्योति भर दे, जिससे हमारे इस जीवनमें तथा जीवनके उस पार भी—सर्वत्र सदाके लिये उजाला हो जाय। सचमुच ही यदि रोगों-दुःखोंसे त्राण पानेके उद्देश्यसे ही ऐसे प्रत्येक अवसरपर ही यदि हम प्रभुको पुकारें, सरल विश्वासके साथ, एकान्त मनसे उनकी सहायताका आवाहन करें तो हमारा यहाँका रोग-दुःख तो मिट जाय, बिना ओषधि किये, बिना कुछ प्रयत्न किये ही मिट जाय, साथ ही हमारे अन्दर प्रभुके

प्रति श्रद्धाका भी उन्मेष होने लगे और यह श्रद्धा निरन्तर बढ़ती ही जाय। इतना ही नहीं, अन्तमें कभी किसी दिन अनादि अज्ञानसे मुँदी हुई हमारी आँखें भी खुल जायँ, मोह-निद्रा टूटकर हमें यह अनुभव होने लगे कि यहाँ तो जगत् नामक कोई वस्तु असलमें है ही नहीं, हैं केवल एकमात्र प्रभु और है उनकी आनन्दमयी लीला तथा यह अनुभव करके हम सदाके लिये सुखी हो जायँ।

आजसे पचास वर्ष पहलेकी एक सच्ची घटना है। १९३४ ईस्वीकी बात है। पोर्ट्स माउथ नगरके मिस्टर आल्फ्रेड जी-सरले (Mr. Alfred G-Searle) नामक सज्जनकी आँखोंमें ग्लूकोमा (Glaucoma) नामक रोग हो गया। आँखका यह एक भयङ्कर रोग है, जो सहजमें अच्छा नहीं होता। आँखके सर्जनने उन्हें बताया कि यदि तुरन्त चीरा लगाया जाय तो शायद थोड़ी-सी रोशनी बच सकती है, पर यदि चीरा लगानेमें तनिक भी देर की गयी तो आप सर्वथा अन्धे हो जायँगे। इतना ही नहीं, इतनी भयङ्कर पीड़ा शुरू हो जायगी कि आँखोंको निकाल देनेपर ही वह शान्त होगी। किंतु मिस्टर सरलेने चीरा लगवाना स्वीकार नहीं किया। वे प्रभुके दृढ़-विश्वासी थे, उनका विश्वास था कि प्रभु मेरी आँखोंको बिना चीरा लगाये ही अवश्य ठीक कर देंगे। सर्जनके निदानमें तो भूलकी कोई सम्भावना थी ही नहीं। ग्लूकोमा रोगके लक्षण इतने स्पष्ट होते हैं कि आँखका साधारण डाक्टर भी उसे देखकर निश्चित रूपसे निदान कर सकता है। यहाँ भूलकी, मतभेदकी जगह नहीं रहती। अतः मिस्टर सरलेके लिये सर्जनके निदानपर सन्देह करनेका कोई कारण न था। रोगकी भयङ्करताको वे समझ गये थे। फिर भी उनका विश्वास प्रभुपरसे हिला नहीं और सर्जनसे यह कहकर कि आगामी शुक्रवारको आपसे मिलूँगा—वे लौट आये। जो हो, गुरुवारके प्रातःकालतक तो आँखोंमें कोई सुधार नहीं हुआ, किंतु मिस्टर सरलेके विश्वासमें तनिक

भी शिथिलता नहीं आयी। 'मेरे नेत्रोंकी ज्योति पुनः लौट ही आयगी, प्रभु मुझे निराश नहीं करेंगे।' उनकी यह भावना ज्यों-की-त्यों बनी रही। आखिर प्रभुके प्रति ऐसे विश्वासका जो फल होना चाहिये वह हुआ ही। गुरुवारकी रात ढलते-न-ढलते उनकी आँख सर्वथा चमत्कारपूर्ण ढंगसे बिलकुल ठीक हो गयी। नेत्रोंकी पूरी ज्योति लौट आयी। यहाँतक कि दिवारपर टँगे कलेण्डरके बहुत छोटे अक्षरोंको भी वे स्पष्ट पढ़ सकते थे।

जिस प्रकार मिस्टर सरलेकी आँखें बिना चीरा लगाये ही, बिना किसी उपचारके ही क्षणोंमें प्रभुने ठीक कर दीं, वैसे ही वे औरोंकी आँखें ठीक कर सकते हैं, किसीका भयङ्कर कैन्सर मिटा सकते हैं, कुष्ठ दूर कर सकते हैं, यक्ष्मा आराम कर सकते हैं, ज्वरकी ज्वाला शान्त कर सकते हैं, संग्रहणी हर ले सकते हैं, जितने रोग हैं, सबसे मुक्त कर सकते हैं। कर तो सकते हैं, पर करते नहीं, यह बात भी नहीं। जहाँ विश्वासपूर्वक कोई उनसे यह करवाना चाहता है वहाँ अवश्य-अवश्य वे करते हैं। ऐसी घटनाएँ एक नहीं, अनेक—ऊपर वर्णित घटनाकी अपेक्षा भी बहुत अधिक चमत्कारपूर्ण एवं विस्मयमें डाल देनेवाली घटनाएँ आज भी—जहाँ प्रभुके प्रति संशयहीन विश्वास है वहाँ घटित होती हैं। यह बात दूसरी है कि हमारी श्रद्धाहीन आँखोंके सामने वे व्यक्त न हों, हमें सुननेतकको भी वे न मिलें। हमें अवकाश ही कहाँ है कि ऐसी घटनाओंको ढूँढ़ें, देखें, पढ़ें, सुनें और पक्ष छोड़कर उनपर विचार करें, मनन करें! कदाचित् कभी कोई सुन भी लेते हैं तो उसे अपने मनोविज्ञानके अधूरे ज्ञानपर कसकर 'यह तो इच्छाशक्ति (Will Power) का चमत्कार है' यह फतवा दे बैठते हैं। इस इच्छाशक्तिके भी मूल उद्गम प्रभु, प्रभुकी अपरिसीम शक्ति, उनकी शक्तिके अगणित

असंख्य चमत्कारोंकी ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। जो हो, यहाँ तो तात्पर्य इतनेसे ही है कि रोग-दुःखसे त्राण पानेके लिये यदि हम प्रभुको पुकारें तो वे अवश्य सुनते हैं। इस निमित्तसे भी यदि हम उनकी ओर ताकें, उन्हें अपने मनमें उतरने दें तो हमारा बड़ा कल्याण हो। अन्य समस्त चिकित्सा, उपचार जहाँ व्यर्थ हो जाते हैं, वहाँ प्रभुकी सहायता चमत्कार उत्पन्न कर देती है। प्रभुकी यह सहायता हमें केवल इच्छित फल देकर ही समाप्त नहीं हो जाती है, हमारे अन्दर एक अमिट संस्मरण छोड़ जाती है। यह संस्मरण हमारे परम कल्याणका बीज बन जाता है। अनुकूल साधन मिलते जायँ तो यह बीज शीघ्र अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित होकर फल देने लग जाय। पर हम कहीं प्रभुके इस उपकारको भूल जायँ—और अधिकांशमें यही होता भी है—तो भी इस बीजका नाश नहीं होता, यह भीतर-ही-भीतर हमारे अन्दर कुछ-न-कुछ काम करता ही रहेगा, कम-से-कम इतना काम तो यह करेगा ही कि पुनः अन्य दुःख-विपत्तिके अवसरपर प्रभुकी सहायता माँगनेके लिये स्फुरणा उत्पन्न कर देगा। यह क्या कम है! पथ भूले हुएको गन्तव्य पथका सङ्केत कर देना कितनी बड़ी सहायता है!

जैसे रोगसे छूटनेकी बात है वैसे ही अन्य अभीष्ट वस्तुकी प्राप्तिके लिये भी हम प्रभुकी सहायता लेकर अपने कल्याणका पथ विस्तृत कर सकते हैं। यह स्मरण रखनेकी बात है कि अतिशय पवित्र परम उत्कृष्ट ऊँचा-से-ऊँचा भाव रखनेवाला एक मनुष्य—

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥

(श्रीमद्भा० ९।२१।१२)

'मैं प्रभुसे अष्ट सिद्धियोंसे युक्त परम गति नहीं चाहता, वे मुझे

त्रिविध दुःखसे मुक्त कर दें, यह कामना भी उनसे नहीं करता। मैं तो इतना ही चाहता हूँ कि विश्वके समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित हो जाऊँ और फिर उनका सारा दुःख मैं ही भोगूँ, सबका दुःख-भार मुझपर आ जाय, जिससे और सभी दुःखसे त्राण पा जायँ, कहीं किसीको दुःख रहे ही नहीं।'

—इस प्रकारका परम शुभ, आदर्श विचार रखनेवाला व्यक्ति प्रभुके लिये जितना स्नेहपात्र है, उतना ही स्नेहपात्र वह व्यक्ति है जो उनसे विश्वासपूर्वक यह माँग रहा है—'नाथ! अमुक आफिसमें मुझे सौ रुपयेवाला स्थान दिला दो।' दोनोंपर ही प्रभुकी ओरसे तो अपरिसीम स्नेहकी वर्षा हो रही है। प्रभुके लिये यह कदापि सम्भव नहीं कि पहलेका सम्मान करें और दूसरेकी उपेक्षा। पहला ऊँचा और दूसरा क्षुद्र—यह अन्तर तो हमारी दृष्टिमें है। प्रभुकी दृष्टिमें तो दोनों ही उनके हृदयके टुकड़े हैं, दोनोंके रूपमें वे-ही-वे हैं। हाँ, ऐसा तो कह सकते हैं कि पहला तो प्रभुकी स्नेहधारामें बहकर अपनी यात्रा समाप्त करके प्रभुके आनन्दरससिन्धुमें निमग्न होनेके लिये तटके अत्यन्त समीप पहुँचा हुआ उनका प्रौढ़ पुत्र है एवं दूसरा उनकी स्नेहभरी गोदमें खेलनेवाला अबोध शिशु है, जो उनकी ठोड़ी पकड़कर उनसे मिट्टीका एक खिलौना माँग रहा है, खिलौनेके लिये मचला हुआ है, खिलौना न पाकर दुःखी हो रहा है। भोला शिशु जो ठहरा, प्रभुके अनन्त पारावारविहीन आनन्द-रस-सागरकी बात जानतातक नहीं, अभी तो उसकी यात्रा आरम्भ हुई है। अस्तु, प्रभुसे अपने अभीष्टकी याचना करनेमें हमें तनिक भी संकोच नहीं करना चाहिये। इस निमित्तसे ही प्रभुसे जो हमारा सम्बन्ध जुड़ेगा, वह हमारे लिये अमूल्य निधि है, अवश्य ही इसमें दो बातोंकी सावधानी रखनेकी आवश्यकता है। एक तो हमारी माँगी हुई वस्तु ऐसी न हो, जिसमें जगत्‌के किसी भी प्राणीके

लिये अमङ्गल—अहितकी भावना सनी हो, क्योंकि ऐसी याचनाका उत्तर प्रभुकी ओरसे निश्चित रूपसे नहीं ही मिलता। तथा दूसरी बात यह है कि मनमें 'प्रभु देंगे कि नहीं देंगे' ऐसा संशय तनिक-सा भी क्षणमात्रके लिये भी भूलकर भी कभी न आने दें। 'अवश्य देंगे' यह दृढ़ विश्वास रखकर हम उनसे माँगें। फिर दो बातोंमें एक बात अवश्य होगी। या तो प्रभु वह वस्तु हमें दे देंगे, या हमारे मनसे उस वस्तुके पानेकी इच्छाको सर्वथा मिटाकर हमें शान्ति दे देंगे। इतना ही करके वे चुप बैठ जायँगे, सो बात नहीं, इसके साथ ही वे कुछ ऐसी चीज भी दे डालेंगे, जो हमारी दरिद्रताको सदाके लिये जला देगी। भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासका यह अमर सन्देश अपने हृत्पटपर स्वर्णाक्षरोंमें हम लिख लें, यह कभी मिथ्या नहीं होगा—

जग जाचिअ कोउ न, जाचिअ जौं,
जियँ जाचिअ जानकि-जानहि रे।
जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ,
जो जारति जोर जहानहि रे॥

'जगत्‌में किसीसे मत माँगो। यदि माँगना ही है तो मन-ही-मन प्रभुसे माँगो। प्रभुसे माँगते ही याचकता (दरिद्रता—कामना) जो सारे संसारको बरबस जला रही है, स्वयं जल जायगी।'

सचमुच प्रभुसे माँगनेवालेका मँगतापन सदाके लिये मिट ही जाता है—

तोहि माँगि माँगनो न माँगनो कहायो।

यह ठीक है कि अहितकर वस्तु माँगनेपर भी प्रभु नहीं देते। स्नेहमयी जननी भी तो अपने भोले बच्चेके माँगनेपर उसके हाथमें चमकती हुई छूरी नहीं देती। किन्तु कहीं बच्चा मचल जाय, अड़ जाय, किसी भी फुसलावेमें न आवे तो माँ छूरी हाथमें दे देती है, पर हाथको

पकड़े रहती है कि कहीं काट न ले। फिर जगत्‌की अनन्त माताओंके हृदयमें अनादिकालसे सञ्चरित वात्सल्यस्नेह जिस स्नेह-रसके अनन्त समुद्र प्रभुसे आता है, भूत, वर्तमान, भविष्यकी सब माताओंका पुञ्जीभूत, एकत्रित वात्सल्य जिनके स्नेहकी एक बूँदके भी बराबर नहीं ठहरता, वे प्रभु क्या ऐसा नहीं कर सकते ? अवश्य कर सकते हैं। किसी अबोध, पर उनके सर्वथा परायण हुए परम विश्वासी शिशुके मचल जानेपर, अड़ जानेपर हालाहल विषको भ्रमवश अमृत मानकर उसे ही पिला देनेके लिये हठ कर लेनेपर प्रभु भी ऐसा कर सकते हैं। यहाँकी मातामें तो शक्ति-सामर्थ्य सीमित है, वह किसी अंशतक ही अपने लाड़ले शिशुका हठ निभा सकती है। पर प्रभुकी सामर्थ्य तो सर्वथा अनन्त, अपरिसीम है। वे सर्वभवनसमर्थ हैं, अघटन-घटना उनके लिये नित्य हँसी-खेल है। वे सचमुच लोकदृष्टिमें हालाहल विषरूप वस्तु दे सकते हैं, बाह्यदृष्टिमें वह वस्तु ज्यों-की-त्यों विषरूप ही दीखेगी, पर वह उनके जनके लिये, जिसे उन्होंने दी है या देंगे, उसके लिये परम अमृत बन जायगी, उसे अमर कर देगी। भले ही प्रभुका यह अमित प्रभाव हमारी तर्कशील बुद्धिमें स्थान न पावे, हम इसपर विश्वास न कर सकें, यह बात दूसरी है। अथवा—'प्रभुके भक्तमें हठ हो ही नहीं सकता, प्रभुका भक्त तो अपनी इच्छा प्रभुकी इच्छामें ही मिला देता है, भक्तकी बुद्धि परम शुद्ध होती है, वह अपने लिये किसी भी अहितकर वस्तुकी याचना कर ही नहीं सकता'—इस प्रकार आदर्श भक्तोंकी बात कहकर हम इन बातोंका खण्डन भले कर दें या ऐसा न करके अपने पाण्डित्यके बलसे 'सर्वसमर्थता' शब्दकी व्याख्या करते हुए प्रभुकी शक्ति-सामर्थ्यकी अपनी मनमानी एक सीमा निर्धारित कर दें तथा प्रमाणमें कुछ ऐसे युक्तिपूर्ण वाक्योंकी रचना

कर लें कि उनके उत्तरमें बाध्य होकर किसीको कहना ही पड़े कि प्रभु यह तो नहीं कर सकते। पर इससे न तो प्रभुका अमित प्रभाव ही कम होता है, न प्रभुके साम्राज्यका यह अनन्त वैचित्र्य ही मिटता है और न यह सीमा ही बँधती है कि विश्वाससे यह तो हो सकता है, यह नहीं हो सकता।' जो सत्य है, वह सत्य ही रहेगा। हमारी इच्छा, हम उसे मानें, ढूँढ़ें, पहचानें, परीक्षा करें अथवा उसकी ओरसे मुँह मोड़े रहें। किन्तु बुद्धिमानी इसीमें है कि दुराग्रह त्यागकर हम उसकी एक बार कम-से-कम परीक्षा तो अवश्य करें। यद्यपि प्रभु एवं प्रभुकी शक्ति-सामर्थ्यसम्बन्धी बातें परम सत्य होनेपर भी व्यक्त होनेके लिये श्रद्धाकी अपेक्षा अवश्य रखती हैं, किन्तु पक्षपातशून्य परीक्षकको उनका आभास अवश्य मिल जाता है। हम सर्वसाधारणके लिये तो—यदि प्रभुके अस्तित्वमें थोड़ा भी विश्वास है तब—यही परम कल्याणकारी साधन है कि प्रभुपर विश्वास और भी दृढ़ करते हुए उनकी सहायता हम जिस-किसी निमित्तसे भी लेने लग जायँ। इसमें लाभ-ही-लाभ है।

ऐसा भी कहा जाता है कि 'प्रभुकी सकाम उपासना नहीं करनी चाहिये; क्योंकि वास्तवमें सच्ची श्रद्धा तो होती नहीं और इस कारण इच्छित फल नहीं मिलता, जिससे उलटे और अश्रद्धा हो जाती है।' बात बहुत ठीक है। ऐसा होता है, पर हम यह सोचें कि हमारा इसमें बिगड़ा क्या? पहले भी श्रद्धा नहीं थी, श्रद्धाकी बिलकुल झूठी नकल थी, श्रद्धा होनेका भ्रम था; क्योंकि सच्ची श्रद्धा होनेपर यह असम्भव है कि प्रभुकी ओरसे प्रत्युत्तर न मिले, अवश्य-अवश्य उत्तर मिलेगा ही। हमें कोई उत्तर नहीं मिला, यही इस बातका ज्वलन्त प्रमाण है कि हमारा विश्वास प्रभुपर नहीं था, नहीं है। अब इच्छित उत्तर न मिलनेपर यदि भ्रम मिटकर हमारे मनका सच्चा रूप प्रकट हो गया तो इसमें लाभ हुआ

या हानि हुई ? हमारी स्थिति जो पहले थी वही अब है, अधिक लाभ यह हुआ कि श्रद्धाका दम्भ अब हम नहीं करेंगे। साथ ही एक बहुत बड़ा लाभ हमारी जानकारीमें न आकर ही और हो गया। उतने मास, उतने दिन या उतने घण्टे जो प्रभुके सम्पर्कमें बीते, इस निमित्तसे हमने प्रभुको इतने समयके लिये जो अपने मनमें बसाया, यह इतनी मूल्यवान् सम्पत्ति एकत्र हो गयी कि उसकी तुलना नश्वर जगत्के किसी भी पदार्थसे सम्भव ही नहीं। इतना ही नहीं, सचमुच हमारे अन्दर सच्ची श्रद्धाके बीज भी बिखेर दिये गये। उन बीजोंकी क्रिया बढ़नेपर अश्रद्धाका हमारा यह आवरण भी नष्ट हो जायगा। फिर हम बाहर-भीतर समान बन जायँगे। अतः ऐसी अश्रद्धा भी होनेकी सम्भावना हो तो यह भी वरण करनेयोग्य है, प्रभुसे न जुड़नेकी अपेक्षा उनसे जुड़कर ऐसी अश्रद्धाको मोल ले लेना भी बहुत ही मङ्गलकारक है। जैसे भी हो तथा परिणाममें कुछ भी हाथ लगे, किसी निमित्तसे हम प्रभुसे जुड़ें, यही सार बात है।

अन्तमें एक बात और रही, जिसका जानना आवश्यक है। रोग-दुःखसे त्राण पानेके लिये अथवा अपनी अभिलषित वस्तुकी प्राप्तिके लिये यदि हम प्रभुकी सहायता लें तो उसका रूप क्या होना चाहिये, उसका ढंग क्या होना चाहिये ? उसका प्रकार क्या है ? तो उसके लिये अत्यन्त संक्षेपमें तथा सरलतासे समझमें आनेवाली बातें ये हैं—

१—कल्पना करें, शरीरमें कोई व्याधि हो गयी, गठियाकी पीड़ासे प्राण व्याकुल हैं, इससे मुक्त होनेके लिये हम प्रभुसे सहायता चाहते हैं। उसके लिये हमें चाहिये कि अपनी सारी शक्ति बटोरकर उनको एक बार पीड़ासे हटाकर हम ऐसी भावना करें—'हमारे भीतर-बाहर, दाहिने-बायें, आगे-पीछे, नीचे-ऊपर हमारे अणु-अणुमें

आनन्दमय प्रभु भरे हुए हैं, यहाँ सर्वत्र प्रभुका अनन्त असीम अपार आनन्द भरा है। प्रभुकी अखण्ड अपरिसीम शान्ति सर्वत्र फैली हुई है, हम प्रभुके उस आनन्दमें, उस शान्तिमें ही डूबे हुए हैं। प्रभुके आनन्दका, उनकी शान्तिका समुद्र लहरा रहा है, हमारा अणु-अणु अपार अनन्त असीम आनन्दसे, शान्तिसे भर गया है·····।' इस प्रकारकी भावनामें मनको सर्वथा डुबो देनेका प्रयास करें। यह नहीं कि पीड़ाको याद कर-करके प्रभुको बार-बार पीड़ाकी स्मृति दिलावें। प्रभु पहलेसे जानते हैं कि हमारी इच्छा क्या है। अब यदि हम सचमुच इस भावनासे मनको एक बार पूरा-पूरा भर सकें, उस मनको जिसमें यह विश्वास पहलेसे ही भरा हो कि प्रभु हमारी गठियाकी पीड़ाको निश्चय मिटा देंगे तो सच मानें, भावना टूटते-न-टूटते गठियाकी पीड़ा भी न जाने कहाँ चली जायगी और हमारा रोम-रोम प्रभुके प्रति कृतज्ञतासे भर उठेगा। दृढ़ विश्वास एवं मनकी एकाग्रता—दो ही बातें अपेक्षित हैं। ये तो होनी ही चाहिये। इसमें भी पीड़ावश एकाग्रतामें त्रुटि आवे तो वह भी क्षम्य है। पर विश्वास शिथिल न हो यह अत्यन्त आवश्यक बात है। विश्वासकी कमी ही फल-उत्पादनमें विलम्ब करती है। अतः एक बारकी भावनामें पीड़ा न मिटे तो विश्वासको और भी सुदृढ़ बनाकर यह भावना बार-बार करते ही जायँ। विश्वासका काँटा जहाँ अपेक्षित स्थानपर आया कि निश्चय ही या तो प्रभु हमारी पीड़ा हर लेंगे या पीड़ा मिटानेकी वासना हरकर हमारे अन्दर एक अद्भुत शान्ति, सहिष्णुताका संचार कर देंगे। फिर पीड़ाका अनुभव भले हो, पर मन सर्वथा अनुद्विग्न एवं शान्त होकर एक अनिर्वचनीय आनन्दसे भर उठेगा। यह आनन्द कैसा होता है, इसे हम केवल अनुभव कर पायेंगे, दूसरेको बता सकें, यह सम्भव नहीं।

२—किसी अभिलषित वस्तुकी प्राप्तिका उद्देश्य होनेपर एक बार प्रभुसे अपनी इच्छा निवेदन कर दें। प्रभु जानते तो हैं ही, पर अपने सन्तोषके लिये ही ऐसा कर लें। फिर निश्चिन्त हो जायँ—इस भावनासे कि प्रभु हमारी इस इच्छाको अवश्य-अवश्य पूरी करेंगे ही। इसके बाद प्रभुके अनन्त वैभवमय स्वरूपमें अपने मनको डुबो दें, डुबाये रखें। हठात् एक दिन देख पायेंगे कि यह मनोरथ पूर्ण हो चुका है। अथवा यह प्रत्यक्ष-सा अनुभव हो जायगा कि अमुक समयपर वह वस्तु हमें मिल जायगी अथवा यह होगा कि मनमें उस वस्तुको प्राप्त करनेकी इच्छा ही सर्वथा मिट जायगी।

३—दुःखमें पड़े हुए अपने किसी स्वजन-सम्बन्धी या मित्रके लिये भी हम प्रभुकी सहायताका आवाहन उपर्युक्त भावनाकी प्रक्रियासे कर सकते हैं। ऐसा करना अपने उस सम्बन्धी-मित्रके प्रति हमारी इतनी अद्भुत चमत्कारपूर्ण सेवा होगी कि जिसकी कल्पना भी अभी हम नहीं कर सकते। अपने जिस मित्र-स्वजनके लिये प्रभुकी सहायता अपेक्षित हो, उसकी मानसिक मूर्ति अपने सामने हम खड़ी कर लें। मन-ही-मन उसे देखते हुए हम यह भावना आरम्भ करें—'यहाँ इसके भीतर-बाहर, ऊपर-नीचे, दाहिने-बायें सर्वत्र प्रभु भरे हैं, उनका आनन्द, उनकी शान्ति भरी है···।' ऊपर वर्णित भावनाको ही अपने मित्रकी उस मानसिक मूर्तिमें भर दें। यहाँतक कि मूर्तिका अस्तित्व, स्मृति तो विलुप्त हो जाय और वहाँ बच रहें केवल प्रभु, उनका अखण्ड और अनन्त आनन्द, उनकी शाश्वती शान्ति। हमें पीछे यह जानकर विस्मय होगा कि हमारे उस मित्रके दुःखका अत्यन्त चमत्कारपूर्ण ढंगसे अवसान हो गया है, उसकी परिस्थिति अचानक अजीब ढंगसे सुधर गयी है अथवा बाह्य परिस्थिति तो ज्यों-की-त्यों है, पर मित्रके स्वभावमें, मनमें कुछ

जादू-सा हो गया है; उसकी चिन्ता, उद्विग्नता मिट गयी है और वह एक अद्भुत शान्तिका अनुभव करने लगा है। अवश्य ही इस प्रक्रियामें भी सफलता निर्भर करती है इसी बातपर कि (१) स्वयं हमारे मनमें प्रभुके प्रति कितनी, कैसी श्रद्धा है और (२) सहायताका आवाहन करते समय मनकी एकाग्रता कैसी—किस जातिकी थी।

बस, सहायताके आवाहनका प्रकार उपर्युक्त दो बातोंमें ही प्रायः आ जाता है। इतना ही बहुत है।

इसमें किसीका मतभेद हो ही नहीं सकता कि प्रभुके साथ सर्वथा निष्कामतापूर्ण सम्बन्ध ही उपासनाका पवित्र आदर्श है। प्रभुसे कुछ भी माँगना वास्तवमें है अज्ञता ही। हमारे लिये जो भी आवश्यक है, उसे प्रभु हमारे बिना माँगे ही आगे-से-आगे देते रहते हैं, देते रहेंगे। परम स्नेहमयी जननीकी भाँति हमारे लिये सब कुछ वे पहलेसे ही सुव्यवस्थित कर रखते हैं। उनसे हम क्या माँगें, क्यों माँगें ? यह बुद्धि भी हमारे अन्दर कहाँ कि हम निर्णय कर लें—हमें क्या चाहिये और क्या नहीं चाहिये। किन्तु जब हमें अभावकी अनुभूति हो रही है और प्रभुसे विमुख होकर हम भटक रहे हैं, तब इस परिस्थितिमें जो भी निमित्त हमें प्रभुसे जोड़ सके, उसको अवश्य-अवश्य ग्रहण कर लेना चाहिये। यह भी सन्तोंका अनुमोदित मत है, इसमें भी सभी एकमत हैं। हमें भी यह अभिप्रेत होना ही चाहिये कि जैसे भी हो हमारा मुख तो प्रभुकी ओर हो जाय। फिर—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

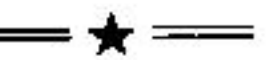

इच्छाशक्ति या प्रभुकृपापर विश्वास

आधुनिक युगमें इच्छाशक्तिको बहुत महत्त्व दिया जा रहा है। उचित भी है। यह नितान्त सत्य है कि हमारी इच्छाशक्तिमें बहुत बल है। इस बलका उपयोग करके हम अपनी गिरी दशासे बहुत कुछ ऊपर उठ सकते हैं। पर जबतक इस शक्तिका प्रवाह प्रभुकी ओर नहीं होता, तबतक इसके द्वारा भले ही हम कुछ समयके लिये ऊँचे स्तरपर आ जायँ; किन्तु वह स्थिति स्थायी नहीं हो सकेगी। निरन्तर हमारे लिये पतनका भय लगा ही रहेगा और कुसमयमें—जिस समय हमें अन्य दुर्बलताएँ आकर घेरेंगी, उस समय—हम अपनी प्राप्त स्थितिसे भी नीचे गिर सकते हैं। कल्पना करें—'हमारी इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति किसी कुमार्गकी ओर हुई। अब यदि वास्तवमें हम यह दृढ़ इच्छा करें, पूरे मनोयोगसे यह चाहें कि नहीं, हम अपनी इन्द्रियोंको कुमार्गमें नहीं जाने देंगे, हमारी इन्द्रियाँ कुमार्गमें नहीं जा सकतीं, इस प्रकार दृढ़ सङ्कल्प करके इन्द्रियोंको कुपथसे हम पूरी तत्परतापूर्वक हटाना चाहें, हटा दें तो इन्द्रियोंमें सचमुच यह शक्ति नहीं है कि हमारी आज्ञाका, दृढ़ सङ्कल्पका वे विरोध कर सकें। उन्हें लौटना पड़ेगा, वे एक बार निश्चय लौट आयेंगी। पर इतने मात्रसे ही हमारे पतनका भय चला गया हो, इन्द्रियाँ फिर उस ओर नहीं ही जायँगी, यह सुनिश्चित हो गया हो, सो बात नहीं है। पुनः जहाँ वैसा कोई अवसर आयेगा, हम असावधान होंगे, अपनी इच्छाशक्तिपर नियन्त्रण खो बैठे होंगे, कुछ क्षणों पहले हमने वैसे ही मिलते-जुलते बुरे भावोंको अपनी दुर्बलतावश मनमें स्थान दे रखा होगा कि बस, उस ओरसे लौटी हुई वे इन्द्रियाँ उछलेंगी

और बाँध तोड़कर वैसे ही असत्पथकी ओर और भी प्रबल वेगसे भागने लगेंगी। अतः स्थितिको स्थायी बनाये रखनेके लिये यह भी परम आवश्यक है कि जैसे अपने अन्दरकी इच्छाशक्तिका प्रयोग करके, दृढ़ सङ्कल्पके द्वारा हमने इन्द्रियोंको कुमार्गकी ओरसे हटाया, निषेधात्मक प्रयोगसे उन्हें शान्त किया, वैसे ही उतनी ही दृढ़तासे पुनः उसी इच्छाशक्तिका आश्रय लेकर हम उन्हें प्रभुकी ओर प्रवृत्त करें, प्रभुकी ओर उनकी अविराम गति कर दें, निर्माणात्मक प्रयोगके द्वारा हम उन्हें नित्य, सत्य, अखण्ड, अचल, परम मङ्गलमय प्रभुसे जोड़ दें। ऐसा कर लेंगे तो फिर प्राप्त हुई स्थितिसे हमारा पतन असम्भव हो जायगा।

जैसे किसी स्रोतमें एक ओरसे जल आ रहा हो। हमने निश्चय किया कि अमुक दिशाकी ओर जल नहीं जाने देंगे; और फिर उस ओर सुदृढ़ बाँध बाँध दिया। अब जल रुक तो जायगा, किन्तु उसके निकलनेका मार्ग भी हमें बनाना चाहिये। अन्यथा जल एकत्र होते-होते जहाँ बाँधकी सीमाको छूने लगा कि बाँध या तो टूटेगा या बाँधको लाँघकर जल बह चलेगा। ऐसे ही जबतक हमारी इन्द्रियाँ काम कर रही हैं, उनमें प्रवाह है ही। यदि हमने इच्छाशक्तिका प्रयोग करके उन्हें किसी ओर जानेसे रोक भी दिया तो इसका यह अर्थ नहीं कि उनका उस ओरका प्रवाह बन्द हो गया हो। भले ही हमें दीखे नहीं; पर अन्तश्चेतनामें उनकी गति सतत उस ओर ही है। इसीलिये हमें उचित है कि उस ओरसे रोकनेके साथ-ही-साथ तुरन्त हम उन्हें प्रभुकी ओर मोड़ दें। वे उस ओर मुड़ गयीं, मुड़कर प्रभुसे जुड़ गयीं, तब फिर तो सागरसे मिले हुए सोतेकी भाँति सदाके लिये प्रभुकी ओर ही बहती रहेंगी। फिर उनकी दिशा बदल जाय, फिर कुमार्गकी ओर वे दौड़ चलें,

इसकी सम्भावना सर्वथा समाप्त हो जायगी।

किन्तु यह तो तब सम्भव है कि जब हमारा विवेक जाग्रत् हो; यह भला है, यह बुरा है, यह सुमार्ग है, यह कुमार्ग है—इसकी हमें पूरी पहचान हो; इसकी सजग स्मृति हमारे अन्दर सदा बनी रहे। यह विवेक यदि मर नहीं गया है, तो फिर इच्छाशक्तिका प्रयोग करके हम नीचे गिरनेसे बच सकते हैं—ऊपर उठ सकते हैं, पर कभी-कभी तो ऐसा होता है कि हम सर्वथा विमोहित हो जाते हैं। क्या करने जा रहे हैं, किधर जा रहे हैं, हमारी इस चेष्टाका कितना भयानक परिणाम होगा—इन बातोंको हम सर्वथा भूल जाते हैं तथा अन्धे-से, पागल-से हुए अपनेको नरककी ज्वालामें होम देनेके लिये दौड़ पड़ते हैं। उस समय इच्छाशक्ति क्या काम आयेगी। बचनेकी इच्छा हो तब न हम इच्छाशक्तिका सत् प्रयोग करेंगे? जहाँ बचना नहीं, डूबना ही उद्देश्य है, वहाँ तो इस शक्तिकी उपयोगिता नगण्य बन जाती है। वरं ऐसी स्थितिमें किसीकी यदि इच्छाशक्ति बलवती हुई रहती है तो उसका अशुभमें प्रयोग हो जाता है और परिणामस्वरूप भीषण पतन होता है। आसुरी स्वभाववालोंकी भी इच्छाशक्ति प्रबल रह सकती है, पर उसका प्रयोग वैसे ही होता है, जैसे प्रयोग करनेवालोंके आसुरी स्वभावके कारण परमोपकार करनेमें समर्थ अणु-शक्ति (एटम) का प्रयोग जनसंहारमें, फलतः परम्परागत विद्वेष और शत्रुताके विस्तारमें हो रहा है! पर ऐसी भीषण परिस्थितिमें भी हममेंसे बहुतोंका यह अनुभव है कि ठीक मौकेपर कोई आकस्मिक, अप्रत्याशित घटना घट जाती है. और आश्चर्यरूपसे हमारी रक्षा हो जाती है; पतनके किनारेसे हम लौट आते हैं, ठीक गिरते-गिरते बच जाते हैं। जो प्रभुकी सत्तामें विश्वास करना नहीं चाहते,वे तो ऐसी घटनाओंका नाम संयोग (Chance)

रख देते हैं। पर जो प्रभुकी सत्तामें विश्वास रखते हैं, वे इसे मानते हैं 'प्रभुकी अहैतुकी कृपा।' वास्तवमें यह संयोग (Chance) नहीं है, सर्वथा निश्चित रूपसे प्रभुकी कृपा ही है। फिर हम क्यों नहीं आरम्भसे ही प्रभुकी कृपापर ही विश्वास करें ? इच्छाशक्तिमें अपार बल होनेपर भी हमें धोखा हो सकता है। उससे उलटा परिणाम भी हो सकता है, वैसे ही जैसे अग्निसे यज्ञादि शुभ कर्म भी हो सकते हैं और सब कुछ भस्म भी हो सकता है; किन्तु प्रभुकी कृपापर विश्वास होनेके उपरान्त कभी धोखा नहीं होगा, यह ध्रुव सत्य सिद्धान्त है।

हम सोचकर देखेंगे तो पता चलेगा कि इच्छाशक्तिको तो हमें जगाना पड़ता है, अपनी सहायताके लिये बुलाना पड़ता है, पर प्रभुकी कृपा तो सदा जागी हुई है, निरन्तर हमें बुला रही है, पुकार रही है—'अरे अबोध प्राणी ! जागो, मेरी ओर देखो, क्यों भटक रहे हो ?' पर हमारे कान तो दूसरी ओर हैं, हम क्यों सुनने लगे। इतनेपर भी न जाने कितनी बार वह हमारे सामने आती है, हमें गड्ढेमें गिरनेसे बचाती है। साथ ही हमारी रक्षा करके हमपर अहसान करने नहीं आती; अपितु हमारा काम सँवारकर तुरन्त छिप जाती है और हम ऐसे कृतघ्न हैं कि उसको भूल ही नहीं जाते, उसका अस्तित्वतक स्वीकार नहीं करना चाहते; उसके उपकारको संयोगकी बात बताकर टाल देते हैं। इसके बाद भी अत्यन्त गाढ़े समयमें वह पुनः हमारे सामने आती है और हमारी सहायता करती है। हममेंसे प्रत्येकको अपने जीवनकी घटनाओंपर विचार करनेके उपरान्त, एकमात्र प्रभुकी कृपासे ही अमुक-अमुक कार्य हुए थे—यह कहनेमें तनिक भी सङ्कोचका अनुभव नहीं होगा। अतः यदि पतनसे बचनेके लिये पहलेसे ही प्रभुकी कृपापर विश्वास कर लें तो हमारी जीवनयात्रा कितनी सरल-सुखमय हो जाय।

इच्छाशक्तिमें जो बल है, वह भी आता है प्रभुके यहाँसे ही। हम आखिर हैं कौन ? उन सत्-चित्-आनन्दमय प्रभुके अंश ही तो हैं। हमारे अन्दर जो कुछ भी है, वह सर्वथा सब कुछ प्रभुका ही तो है। हमारे आत्माका बल ही तो इच्छाशक्तिके रूपमें प्रकाशित होता है। यह आत्मबल सर्वथा प्रभुके बलके अतिरिक्त और क्या वस्तु है। अवश्य ही यहाँ, प्रभुका यह बल हमारे 'अहंता' रूपी आवरणके अन्दरसे प्रकाशित होता है, हमारा 'मैं' उस बलको जितने अंशमें ग्रहण कर पाता है, उसे प्रकट होनेके लिये अवकाश दे पाता है, उतने अंशमें ही वह बल व्यक्त हो पाता है। इसीलिये उसकी एक सीमा बन जाती है, और इसीलिये हमारी इच्छाशक्तिका बल भी सीमित है; किन्तु प्रभुकी कृपापर विश्वास कर लेनेके अनन्तर प्रभुका जो बल व्यक्त होता है, वह असीम बनकर ही व्यक्त होता है। ऐसा इसीलिये कि जिस क्षण हम प्रभुकृपापर विश्वास करने चलते हैं, उस क्षण हमारा 'मैं' अत्यन्त सङ्कुचित, क्षुद्र, हलका बन जाता है, कृपाको पूर्णरूपसे व्यक्त होनेके लिये खुला मार्ग दे देता है। फिर जहाँ वह प्रभुकृपाका बल आया कि बस हमारे लिये असम्भव भी सर्वथा सम्भव बन जाता है। जो कार्य इच्छाशक्तिके प्रयोगसे वर्षोंमें नहीं होता, वह प्रभुकृपासे क्षणोंमें पूर्ण हो जाता है।

प्रभुकी कृपापर विश्वास करनेके उपरान्त यदि हम इच्छाशक्तिका प्रयोग करें तब तो फिर कहना ही क्या है। फिर तो वह स्वयं विशुद्ध होकर विशुद्ध लक्ष्यकी ओर जानेवाली हो जायेगी और प्रभुका बल मिल जानेके कारण वह सर्वथा अव्यक्त और अचूक बन जायगी। भक्त-शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजीने एक पदमें अपने ऐसे ही प्रयोगका वर्णन किया है। वे कहते हैं—रे संसार ! मैं तुझे अब जान गया। तेरे अन्दर अब शक्ति नहीं कि तू मुझे बाँध ले। मुझमें अब प्रभुका

बल आ गया है। प्रभुके बलसे मैं अत्यन्त बलवान् हो गया हूँ, अब तू मुझे नहीं बाँध सकता। तू प्रत्यक्ष कपटका घर है, तेरे कपटमें मैं अब नहीं भूल सकता। × × × तू अपनी सेना समेट ले। हट जा यहाँसे। चला जा; मेरे हृदयमें तू नहीं रह सकता। वहाँ जाकर रह, जिस हृदयमें प्रभुका निवास न हो। मेरा हृदय तो प्रभुका निवास बन गया है। यहाँ अब तेरे लिये स्थान नहीं है; तू टिक नहीं सकता।

मैं तोहि अब जान्यो संसार।
बाँधि न सकहि मोहि हरिके बल, प्रगट कपट-आगार॥

× × ×

सहित सहाय तहाँ बसि अब, जेहि हृदय न नंदकुमार॥

गोस्वामीजी यहाँ इच्छाशक्तिका ही प्रयोग कर रहे हैं, पर उनकी इच्छाशक्तिके पीछे अपनी 'अहंता' के द्वारसे झरनेवाला आसुरी बल नहीं है, अपितु प्रभुका अनन्त असीम बल—प्रभुकी कृपाका पुनीत बल है! ऐसा समन्वय तो हमारे लिये परम वाञ्छनीय है, बिना हिचक हमें यह कर ही लेना चाहिये। ऊपर उठनेके लिये, पतनसे बचनेके लिये हम यदि प्रभुकृपाके बलसे बलवान् बनकर इस प्रकार इच्छाशक्तिका प्रयोग करें तो हमारा जीवन भी देखते-देखते अन्धकारसे निकलकर प्रभुके आलोकमें आ जाय।

बहुत ठीक, पर ऐसा हो कैसे? प्रभुकी कृपाकी अनुभूति हमें क्यों नहीं होती? प्रभुका बल हमें कैसे मिले? तो इसके लिये यह बात है कि हममेंसे ऐसा कोई भी नहीं है जो प्रभुकी अनन्त अपरिसीम कृपासे—प्रभुके अपार बलसे वञ्चित हो। हम सभीके ऊपर-नीचे, दाहिने-बायें, भीतर-बाहर—सर्वत्र प्रभु भरे हैं, सर्वत्र उनकी कृपा, उनका बल भरा है। उनकी कृपा हमें खींच भी रही है, उनका बल हममें

निरन्तर बलका सञ्चार भी कर रहा है, हम जब उनकी ओर देखते हैं, तब हमें इसका यत्किञ्चित् अनुभव भी होता है। पर सदा एवं पूर्ण अनुभव इसलिये नहीं होता कि हम अपने-आपको भूले हुए हैं। हमारा लक्ष्य अभी दूसरा है, हम प्रतीक्षा औरकी कर रहे हैं। प्रभुकी कृपाकी ओर वास्तवमें अभी हमारी दृष्टि ही नहीं। हम हैं सच्चिदानन्दमय प्रभुके अंश, पर अपनेको मानते हैं साढ़े तीन हाथका शरीर। हमारा लक्ष्य होना चाहिये प्रभुसे भेंट, पर लक्ष्य हो रहा है विविध विनाशशील विषयोंका भोग। चाह होनी चाहिये थी प्रभुकी अनवरत बरसनेवाली कृपाके दर्शनकी, पर चाह है उस कृपाको पद-पदपर ढक देनेवाले अहङ्कारके विजयकी। दृष्टि होनी चाहिये प्रभुकी अहैतुकी नित्य कृपाकी ओर, अक्षय असीम बलकी ओर; किन्तु दृष्टि लग रही है जगत्में प्राप्त होनेवाले मिथ्या आश्वासनोंकी ओर—भौतिक नश्वर, सीमित बलकी ओर। इसीलिये हमें प्रभुका, उनकी कृपाका आकर्षण दीखकर भी नहीं दीखता; उनका बल हममें निरन्तर पूर्ण रहनेपर भी हम दुर्बल बने रहते हैं। अब यदि हम केवल एक काम कर लें, प्रभुकी अहैतुकी कृपापर विश्वास कर लें तो आगेका सब क्रम अपने-आप ठीक हो जाय। प्रभुकी कृपापर विश्वास होते ही सब ओरसे दृष्टि सिमटकर कृपाकी ओर लग जायगी; फिर एकमात्र कृपाकी ही प्रतीक्षा रहेगी, प्रभु ही जीवनके एकमात्र लक्ष्य हो जायँगे और फिर यह भी भान हो जायगा कि हम देह नहीं हैं, हम हैं सच्चिदानन्द प्रभुके सनातन अंश। इसके अनन्तर पद-पदपर कृपाके आकर्षणकी अनुभूति होगी। साथ ही अपने अन्दर प्रभुका दैवी बल भी क्रमशः उतर आयेगा। अब हम चाहें तो इच्छाशक्तिका यह पाठ अवश्य रटना आरम्भ करें—'जो गया सो गया, अब आगे एक क्षण भी व्यर्थ नष्ट नहीं होने दूँगा। प्रभुकी कृपासे

संसाररूपी रात्रि समाप्त हो गयी। प्रभुने जगा दिया, मैं जाग उठा। अब कभी मायाकी सेज नहीं बिछाऊँगा, मायाके जालमें कभी नहीं फँसूँगा, माया मुझे अब कभी क्षणभरके लिये भी नहीं फाँस सकती। यह देखो, मुझे प्रभुका नामचिन्तामणि हाथ लग गया। इसे हृदयमें सदा सुरक्षित रखूँगा, क्षणभरके लिये भी इसे न भूलूँगा। अब आजसे—इस क्षणसे प्रभुकी विस्मृति मुझे नहीं होगी, मेरा हृदय निरन्तर प्रभुकी स्मृतिसे पूर्ण रहेगा; प्रभुके स्मरणकी अखण्ड धारा मेरे हृदयमें निरन्तर अनन्त कालतक बहती रहेगी। मेरा चित्त इस क्षणसे सदा निर्मल, निर्मलतर होता रहेगा। इन्द्रियाँ अब मेरे मनको विक्षिप्त नहीं कर सकतीं, मुझे मनमाना नाच नहीं नचा सकतीं, अब ये मेरी खिल्ली नहीं उड़ा सकतीं, अब तो इनपर मेरा पूर्ण अधिकार हो गया है, मैं जो आदेश दूँगा, वही ये करेंगी, सर्वथा अनुगामिनी रहेंगी। अब आजसे मेरा मन-मधुकर प्रभुपाद-पद्मोंमें निरन्तर निवास करेगा।'

अबलौं नसानी, अब न नसैहौं।
राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहौं॥
पायेउँ नाम चारु चिंतामनि, उर कर तें न खसैहौं।
स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहिं कसैहौं॥
परबस जानि हँस्यो इन इंद्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौं।
मन मधुकर पनकै तुलसी रघुपति-पद-कमल बसैहौं॥

सारांश यह कि अपनी इच्छाशक्तिके बलपर अपने उत्थानकी बात न सोचकर पहलेसे प्रभुकी अनन्त अपार कृपापर हम विश्वास स्थापित करें। इस विश्वासके अनन्तर विश्वासको साथ लिये जो इच्छाशक्ति जागेगी, वह अमोघ होगी, हमें निश्चित रूपसे प्रभुकी ओर ले जाकर निर्बाध पूर्णता प्रदान करेगी। अन्यथा प्रभुके सम्बन्धसे शून्य रहनेपर

अकेली वह (Personal Will Power) न तो शुभकी ओर ही ले जायगी, यह निश्चय है और न वह स्थायी स्थिति ही प्रदान कर सकेगी। स्थायी परिणामके लिये तो उसे मङ्गलमय प्रभुकी ओरसे आनेवाली परम मङ्गलमयी (Positive) शक्तिसे युक्त करना पड़ेगा। प्रभुकी कृपाशक्ति कभी नहीं चूकती। विश्वास न होनेपर भी वह हमारी रक्षा करती है, फिर विश्वास करनेवालेके मार्गको वह विघ्न-बाधासे सर्वथा शून्य करके अतिशय सरल और सुगम बना दे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

हम कह सकते हैं कि प्रभुपर विश्वास स्थापित कैसे करें ? होता जो नहीं। तो इसका सीधा उत्तर यह है कि हम प्रभुके कृपामय विधानसे आनेवाले दुःखकी प्रतीक्षा करें। दुःख आयेगा, राशि-राशि मात्रामें आयेगा। पर आयेगा हमारी सारी मलिनताको धोकर हमारे अन्दर प्रभुका विश्वास भर देनेके लिये। अथवा शास्त्रकी बात मानकर, अगणित सन्तोंकी बात स्वीकार करके उनके अनुभवको सुन-पढ़कर हम विश्वास कर लें। जीवनमें न जाने कितनी अनदेखी, अनसुनी बातपर विश्वास करके हम अनेक चेष्टाएँ करते हैं, विश्वके किस कोनेमें क्या हो रहा है, यह बिना देखे केवल समाचारपत्र पढ़कर विश्वास कर लेते हैं और उसी मान्यतापर कारोबार आरम्भ कर देते हैं। वैसे ही विश्वके समस्त सामान्य धर्मग्रन्थोंकी, सभी धर्मके सभी अनुभवी सन्त महानुभावोंकी बात मानकर प्रभुकी सत्ता स्वीकार करके नियमितरूपसे, प्रतिदिन सच्चे हृदयसे जितनी बार पुकार सकें, हम पुकारते रहें—

'प्रभु हौं जैसो तैसो तेरो।'

—बस, किसी-न-किसी दिन हमें प्रभुकी कृपापर विश्वास हो ही जायगा और वह विश्वास ही हमारे लिये महान् शक्तिका अप्रतिहत और अपरिमित पुञ्ज होगा।

चाहने योग्य सत्य वस्तु

जो वस्तु सत्य है, उसे अपने अस्तित्वकी रक्षाके लिये यह अपेक्षा नहीं रहती कि कोई उसे माने ही। हम उसे न मानें, उसकी सत्ता अस्वीकार कर दें, पर सत्य तो सत्य ही रहेगा, उसकी सत्ता ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी। हमारे मानने-न-माननेसे उसका तो कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। हाँ, उसे न माननेके कारण उसके द्वारा प्राप्त होनेवाले परम लाभसे हम बहुत अंशोंमें वञ्चित अवश्य रह जाते हैं, इतना अन्तर हमारे लिये तो हो ही जाता है।

प्रभुकी सत्ता भी ऐसी ही परम सत्य वस्तु है। कोई भले ही उसे न माने। पर वह तो हममें—विश्वके अणु-अणुमें व्याप्त है; अनादिकालसे है, अनन्तकालतक रहेगी, ज्यों-की-त्यों रहेगी। हम यदि उसे मान लेते हैं, तब तो प्रभुका अनन्त वैभव, अनन्त बल, असीम सुयश (सद्गुण), अपरिसीम सौन्दर्य, अथाह ज्ञान, अपार निर्लेपता—उनका सब कुछ हमारा ही है और इसलिये विश्वका कण-कण क्षण-क्षणमें हमारे लिये नये-नये सुखका, नित्य नूतन आनन्दका द्वार खोलता रहता है; किंतु दुर्भाग्यवश यदि हम उनकी सत्ताको अस्वीकार करते हैं तो जगत्की अगणित भोग-सामग्री पासमें रहनेपर भी सचमुच हमारा कुछ भी नहीं, यहाँकी प्रत्येक वस्तु हमारे लिये पद-पदपर दुःख-सन्तापका ही सृजन करती रहेगी।

यह अटल नियम है कि जहाँ हमने उनकी सत्ताको स्वीकार करना छोड़ा कि बस वहीं रास्ता भूले; सुन्दर सड़कसे हटकर उधेड़-बुनके बीहड़ जङ्गलमें भटकने लगे, चिन्तारूपी काँटोंसे हमारे अङ्ग छिदने

लगे, दुःखरूपी दावानलकी लपटोंसे सारा शरीर, मन, प्राण—सब कुछ झुलसने लगा। कहीं कोई रक्षक नहीं, पथ दिखानेवाला नहीं। तीन ओरसे त्रितापरूपी दावाग्नि हमें भस्म करनेको दौड़ी आ रही है, आगे निराशाका घोर अन्धकार छाया हुआ है। प्रभुकी उपेक्षा करते ही हमारी ऐसी दशा हो जाती है। यह सम्भव है कि जवानीके जोशमें विषयोंकी मदिरा पी-पीकर उन्मत्त हो जानेके कारण हमें अपनी इस दुरवस्थाका भान पहले कुछ देरके लिये न हो, पर यह नशा उतरनेमें अधिक विलम्ब नहीं होता तथा फिर हमें उपर्युक्त अनुभूति ही होती है। प्रभुकी अवज्ञा करनेका यह अवश्यम्भावी परिणाम है। अतएव हममेंसे किसीको भी, कभी भी, तनिक भी ऐसा अनुभव हो—किसी प्रश्नको लेकर उधेड़-बुन होने लगे, मनमें चिन्ता चुभने लगे, जलन होने लगे, सहायकका अभाव खटकने लगे, पीछे हटनेमें तो विनाश दीखे और आगे बढ़ना सम्भव नहीं प्रतीत हो—तो उसे उस समय तुरन्त निश्चित रूपसे यह समझ लेना चाहिये कि उसने प्रभुकी सत्ताका अवश्य-अवश्य अनादर किया है। पथ भूलकर सन्मार्गसे हटकर कुमार्गपर आ गया है तथा इस विपत्तिजालसे छूटकर सन्मार्गपर आ जानेका एकमात्र उपाय यह है कि वह जहाँ जिस परिस्थितिमें है, वहीं उसी अवस्थामें प्रभुकी सर्वत्र व्याप्त सत्ताको स्वीकार कर ले। ऐसा किया कि बस, उसी क्षण वहीं प्रभुकी सत्ता व्यक्त हो जायगी, वहींसे सीधा अत्यन्त सुन्दर मार्ग उसे दीख जायगा, प्रश्न हल हो जायगा, जलन शान्त हो जायगी, चिन्ता मिट जायगी। साथ ही—प्रभुका वरद हस्त निरन्तर मेरे सिरपर था और है—यह अनुभूति भी उसे हो जायगी।

सच तो यह है कि यहाँ इस विश्वमें हमारे लिये कोई भी विपत्तिका

जाल नहीं, दुःखका कोई भी तनिक भी कहीं भी कारण नहीं है। सर्वत्र सब ओरसे हमारे लिये मङ्गलका, परम आनन्दका स्रोत बह रहा है। ऐसा इसलिये कि एकमात्र प्रभु ही सदा सर्वत्र विराजित हैं। हमारे आगे वे हैं, हमारे पीछे वे हैं, दाहिनी ओर वे हैं, बायीं ओर वे हैं, नीचे वे भरे हैं, ऊपरकी ओर भी वे ही भरे हैं, सम्पूर्ण जगत्‌के रूपमें वे ही हमें दीख रहे हैं—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥

(मुण्डक० २।२।११)

किंतु हम इस बातको मानते नहीं, इस परम सत्यको स्वीकार नहीं करते। इसलिये हम भ्रान्त हो जाते हैं, हमें कुछ-का-कुछ दीखने लग जाता है, नित्य मङ्गलके स्थानपर अमङ्गलका और सतत आनन्दके स्थानपर दुःख-ज्वालाका अनुभव होने लगता है। अब यदि हम भ्रान्तिको मिटा दें, सत्यको स्वीकार कर लें, यह मान लें कि हमारा तो प्रभुमें ही निरन्तर निवास है, बस, फिर तो हमारी सारी उधेड़-बुन, चिन्ता, दुःख सदाके लिये मिट जायँ; जहाँ दृष्टि जाय, वहीं हमें सुख-ही-सुख भरा दीखे। यह कोई आवेशजन्य धारणा (Hypnotic Suggestion) जैसी क्रियाका क्षणिक परिणाम हो, सो बात नहीं। यह तो परम सत्य सिद्धान्त है, मनीषियोंका प्रत्यक्ष स्थायी अनुभव है। कोई भी इसपर विश्वास करके नित्य सत्य प्रभुकी सर्वत्र सत्ता स्वीकार करके सदाके लिये सुखी हो सकता है।

हम कह सकते हैं कि ऐसा करना कौन नहीं चाहेगा। सुखकी चाह किसे नहीं है? तो इस सम्बन्धमें यह बात है कि केवल कहने-सुननेमात्रसे ऐसी स्थिति प्राप्त नहीं होती। इसके लिये तो हमें अपने

जीवनका दृष्टिकोण बदलना पड़ेगा। मानव-जीवनकी सार्थकता पशुकी भाँति भोग भोगनेमें नहीं, अपितु नित्य सत्य प्रभुकी अनुभूति कर लेनेमें है, यह दृष्टि स्थिर करनी पड़ेगी। सत्-स्वरूप प्रभुसे ही हम निकले हैं, सत्-स्वरूप प्रभुमें ही हमारा निवास है और अन्तमें भी हम सत्-स्वरूप प्रभुमें ही प्रतिष्ठित रहेंगे—

'**सन्मूलाः सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः।**'

इस सिद्धान्तको शरीर छूटनेसे पहले ही प्रत्यक्ष अनुभव कर लेनेके लिये कटिबद्ध होना पड़ेगा तथा यह करके प्रभुकी ओरसे निरन्तर बहनेवाली प्रेमकी धारा, करुणाकी धाराके लिये हमें अपने अन्दर मार्ग देना पड़ेगा, अपने द्वार खोल देने पड़ेंगे। अभी तो हमने सब ओरसे अपनी अगणित स्वार्थमयी इच्छाओंके किवाड़ बनाकर उन्हें बन्द कर रखा है। प्रभुका प्रेम, उनकी कृपा हमें अपने-आपमें मिला लेनेके लिये हमारे द्वारपर आती है, पर सब ओरसे द्वार बन्द देखकर लौट जाती है। हमारी इच्छाएँ ही प्रभुके मङ्गलमय, प्रेममय, कृपामय दानसे हमें वञ्चित कर देती हैं। इसीलिये हमें अपनी इच्छाओंका त्याग करना ही पड़ेगा, अपनी इच्छा मिटाकर प्रभुकी इच्छाको अपने अन्दर व्यक्त होनेके लिये मार्ग देना पड़ेगा। तभी हमारा काम होगा, तभी हमारे उद्देश्यकी पूर्ति होगी।

एक दिनमें ऐसा हो जायगा, यह सम्भव नहीं। अपनी इच्छाओंका त्याग कर देना सहज नहीं है। यों तो प्रभुमें अनन्त सामर्थ्य है। उनकी कृपासे क्षणभरमें असम्भव सम्भव हो जाय, यह बात दूसरी है। पर साधारणतया क्रमशः ही हम अपनी इच्छाओंका त्याग कर सकेंगे। इच्छाएँ छूट जायँ, इसके लिये हमें यह विश्वास बढ़ाना पड़ेगा, यह दृढ़

जो भी उचितरूपसे चाहिये, वह हमें प्रभु अवश्य देते हैं तथा आगे भी जो आवश्यक होगा उसकी पूर्ति वे अवश्य करेंगे। जो हमें प्राप्त नहीं है, उसकी आवश्यकता ही हमें नहीं है। हमारे लिये जो आवश्यक है, वह प्रभु न दें, यह असम्भव है। इस भावको जाग्रत् कर प्रत्येक इच्छाकी जड़ काटनी होगी। यह भाव जितनी मात्रामें दृढ़ होता जायगा, उतनी ही मात्रामें इच्छाएँ मिटती जायँगी। और जैसे-जैसे इच्छाएँ मिटेंगी, वैसे-वैसे ही द्वार खुलने लगेंगे, हमारे अन्दर प्रभुका प्रेम भरने लगेगा। उनकी कृपा भरने लगेगी। धीरे-धीरे हमारा सब कुछ प्रभुसे एकमेक हो जायगा। प्रभुकी सत्तामें ही हमारा 'मैं' भी विलीन हो जायगा। अन्तमें सब ओर सर्वत्र बच रहेंगे एकमात्र केवल प्रभु ही और कुछ नहीं।

पर कदाचित् हम अत्यन्त गिरी दशामें हों, इतने निर्बल हो गये हों कि इच्छाओंको छोड़नेमें अपनेको सर्वथा असमर्थ अनुभव करें, 'नाथ! तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो, मेरी कोई भी इच्छा नहीं, तुम जैसे चाहो वैसे ही करो नाथ!' हमारा हृदय कभी यों न पुकार सके और न हमारा दृष्टिकोण ही बदले, भोग ही हमारे जीवनका उद्देश्य बना रहे, तब हम क्या करें? हमारे-जैसोंके लिये भी आगे बढ़नेका, प्रभुकी सत्ता अनुभव करनेका कोई उपाय है क्या? है, अवश्य है। हम अपनी भोगेच्छाको लिये हुए ही प्रभुसे जुड़ें। हमें धन, जन, परिजन, स्वास्थ्य, मान-सम्मान, यश-कीर्ति—यही चाहिये तो भी कोई बात नहीं। इन्हें लिये रहकर ही इनकी पूर्तिके लिये हम प्रभुसे जुड़ें, पर इतनी सावधानी रखें—

(क) प्रभुपर यह बन्धन न लगावें कि वे हमारी अमुक इच्छाकी पूर्ति अमुक रूपमें करें। उनके सामने अपनी इच्छा रख दें, पर उन्हें उपाय न बताने लग जायँ कि इस इच्छाकी पूर्तिके लिये वे अमुक

निमित्त ही निर्धारित करें। विश्वास रखें कि उनके असीम ज्ञानमें एक-से-एक बढ़कर इतने सुन्दर-सुन्दर असंख्य उपाय हैं कि जिनकी कल्पना भी हमारे मन-बुद्धिके लिये सर्वथा असम्भव है!

(ख) उनसे कहनेके पश्चात् वे करेंगे कि नहीं यह संशय मनमें न आने दें। वे करेंगे ही, यह विश्वास क्षण-क्षणमें दृढ़-दृढ़तर होता रहे।

(ग) प्रारम्भमें यदि वे हमारी कुछ इच्छाओंको पूर्ण न करें तो भी हम निराश न हों—पूर्ण उत्साहसे उनके सामने फिर भी अपनी दूसरी-दूसरी इच्छाओंको रखनेके लिये अवश्य आवें।

(घ) वे यदि पूर्ण करनेमें देर करें तो घबराकर हम दूसरेकी ओर देखने न लग जायँ अथवा अपने बलपर पूरा करनेका मनसूबा न बाँधने लगें।

(ङ) भूलकर भी किसीको नीचा दिखानेके लिये, किसीकी हानि करनेके उद्देश्यसे कोई भी वस्तु प्रभुसे कदापि न माँगें।

यदि उपर्युक्त पाँच बातोंकी सावधानी रखकर हम प्रभुसे कुछ भी माँगेंगे तो दोमेंसे एक बात निश्चय होगी—या तो वह वस्तु प्रभु हमें दे देंगे या उस वस्तुके प्रति हमारी जो इच्छा है, उस इच्छाको ही मिटा देंगे। यदि उन्होंने हमारी इच्छा मिटा दी तो काम बन गया; किन्तु कहीं पूर्ण कर दी तो उसमें भी इच्छा-पूर्तिके अतिरिक्त एक परम लाभ हमें और हो गया। वह यह कि उनके द्वारा प्राप्त होनेवाली वस्तु आगे ऐसी नवीन इच्छामें हेतु नहीं बनेगी जो हमारी प्रगति रोक दे। हमें उनकी ओर बढ़ानेवाले अङ्कुर ही उस वस्तुसे प्रकट होंगे। ये अङ्कुर कुछ ऐसे विचित्र होते हैं कि इनकी ओटमें अन्य समस्त इच्छाएँ मर जाती हैं। फिर तो वही स्थिति आ जाती है—इच्छाएँ मिट गयीं और हममें सब ओरसे प्रभु-ही-प्रभु पूर्ण हो गये।

अबतक जितनी बातें हमारे सामने आयीं उनका सारांश यह है—

प्रभु हैं, किसीके न माननेपर भी उनकी सत्ता अक्षुण्ण रहती है। न माननेवाला माननेके कारण होनेवाले परम लाभसे वञ्चित हो जाता है। उन्हें न माननेका ही परिणाम है जीवनमें उधेड़-बुन, दुःख-ज्वाला! अन्यथा इनका अस्तित्व ही नहीं है, क्योंकि सर्वत्र प्रभु परिपूर्ण हैं, सर्वत्र आनन्द भरा है। कोई भी इस स्थितिका अनुभव प्राप्त कर सकता है। पर इसके लिये उसे इस ओर मुड़ना पड़ेगा तथा अन्य समस्त सांसारिक इच्छाओंको छोड़ना पड़ेगा। भोगकी इच्छा मिटा देनेमें असमर्थ प्राणीको भी प्रभुकी अनुभूति हो सकती है, पर तब, जब कि इच्छापूर्तिके लिये भी वह अन्य उपायोंको छोड़कर एकमात्र प्रभुपर ही निर्भर हो जाय।

उपर्युक्त बातोंपर विचारकर यदि हम प्रभुकी सत्ता स्वीकार कर लें तो फिर हमारे जीवनमें पद-पदपर जो नयी-नयी उलझनें आती हैं, एकका समाधान करते-न-करते दूसरी आ घेरती हैं, वे न आवें। हममेंसे अधिकांशके हृदयमें जो दुःखकी भट्ठी जलती है, वह शान्त हो जाय। उसके स्थानपर सुखका एक ऐसा शीतल शान्त स्रोत उमड़ चले कि उसकी धारामें निमग्न होकर हम स्वयं तो शीतल हो ही जायँ, हमारे सम्पर्कमें आनेवाले दूसरे भी निहाल हो जायँ। इसीलिये भारतवर्षके ऋषि परम निष्काम होकर भी यह कामना करते थे—

माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्।

'मैं कदापि प्रभुकी सत्ता अस्वीकार न करूँ, प्रभु भी मुझे कभी भूल न जायँ।'

हम भी यही कामना करें। सर्वप्रथम चाहने योग्य सत्य वस्तु असलमें यही है। इसीकी चाह हममें होनी चाहिये।

प्रभुका आदेश

सब मनुष्योंको सब समय प्रभुकी ओरसे अपने अन्तरात्मामें यह आदेश अवश्य मिलता रहता है कि 'ऐसे करो', 'ऐसे मत करो' किन्तु हम अधिकांश ऐसे हैं जो उनके आदेशको सुन नहीं पाते। यदि कहीं कोई सुनता भी है तो वह उपेक्षा करता है। इसका निश्चित परिणाम यह होता है कि हम जहाँ जिस क्षेत्रमें जाते हैं, वहाँ ही हमें उलझन मिलती है। अपनेसे आगे बढ़े हुएको देखकर हम जल उठते हैं। अपनी जलनको शान्त करनेके लिये उसकी कटु आलोचना आरम्भ करते हैं और जलन उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। अपने अतिरिक्त अन्य सभी हमें भूले हुए दिखायी देते हैं, सबको सुधारनेका, सारी बुराइयोंको एक साथ दूर कर देनेका हम ठेका ले बैठते हैं। विरोधीकी एक बात भी सुननेके लिये हम तैयार नहीं, अपनी-अपनी ही हमें सुनानी रहती है। अपना मैल धोनेके लिये हमारे पास अवकाश नहीं बच रहता। धोना दूर, हम भी गन्दे हो सकते हैं, यह सोचने-विचारनेतकका अवकाश नहीं; वस्तुतः मैलसे हम चिपटे होते हैं, पर स्वप्न देखने लगते हैं स्वर्गीय जीवनका। प्रभुकी ओरसे आयी हुई प्रेरणाको, उनके दिये हुए स्नेहभरे आदेशको न सुननेका, सुनकर उपेक्षा कर देनेका यह स्वाभाविक परिणाम है! तथा ऐसी भावना, ऐसी प्रवृत्ति जितनी अधिक बढ़ती है उतनी ही मात्रामें हम उत्तरोत्तर उनकी मङ्गल-प्रेरणाको ग्रहण करनेमें अयोग्य बनते जाते हैं। उनकी आवाज और हमारे ज्ञानके बीचमें व्यवधान घना होता जाता है। कुत्सित भावना, उससे कुत्सित प्रवृत्ति, फिर उससे कुत्सित संस्कार—इनकी क्रमशः मोटी-मोटी दीवालें बनती जाती हैं और इसी क्रमसे धीरे-धीरे प्रभुकी ओरसे आयी हुई सूचना

क्षीण, क्षीणतर होती हुई अन्तमें वह ऐसी बन जाती है मानो लुप्त हो गयी; है ही नहीं, थी ही नहीं। आदेश तो उस समय भी आता ही रहता है, पर हमारा मन उसे ग्रहण करनेमें सर्वथा अयोग्य हो जाता है, इसलिये वह आदेश सुन नहीं पड़ता।

कल्पना करें, हमारे सामने जीवनयात्रासम्बन्धी कोई प्रश्न उपस्थित हुआ। अब इस विषयमें कौन-सी व्यवस्था सबसे सुन्दर होगी, हमें क्या करना चाहिये, हम क्या करें—ये सभी बातें हमें प्रभुकी ओरसे प्राप्त होती हैं, उनका निश्चित आदेश इस सम्बन्धमें हममेंसे प्रत्येकको अवश्य मिलता है, पर हम सुन नहीं पाते। और तबतक सुन भी नहीं पायेंगे, जबतक अपने अन्दर बार-बार पद-पदपर व्यक्त होनेवाली व्यक्तिगत अहङ्कारकी आवाजको सर्वथा कुचलकर हम प्रभुकी आवाज, प्रभुके आदेशको वास्तवमें सुननेके लिये तैयार न हो जायँगे। हमारे सामने तो जब कोई भी समस्या आती है, तब हमारा अहङ्कार सामने आ जाता है और एकके बाद एक अनेक युक्ति बतलाने लगता है—यह करो, वह करो। हम सोचते हैं, ऐसा करके हम सफल हो जायँगे, सुखी हो जायँगे। क्षणभरके लिये भी हमारे अन्दर यह विचारतक नहीं उदय होता कि यह कार्य, यह ढंग प्रभुके आदेशका अनुगामी है या नहीं। मन अगणित असंख्य संस्कारोंसे, वासनाओंसे भरा होता है, वर्तमानका वातावरण अनुरूप संस्कारोंको प्रभावित करता रहता है। वे जाग उठते हैं तथा उन्हींके अनुरूप हम अपना कार्यक्रम स्थिर करते हैं, समस्याएँ हल करने चलते हैं। संयोगसे हमारे कुछ कार्यक्रम, कुछ सुझाव प्रभुके आदेशके अनुकूल भले हो जायँ, पर अधिकांश विपरीत होते हैं। विपरीत होनेका ही यह प्रमाण है कि आगे बढ़ते ही हम उलझन, ईर्ष्या, परनिन्दा, अहम्मन्यता, असहिष्णुता,

मलिनता, अज्ञान—इनसे घिर जाते हैं। यही आजके जगत्‌में हो रहा है; हम सोचकर देखेंगे, तो प्रायः सर्वत्र सभी क्षेत्रोंमें कहीं कम तो कहीं अधिक, यही स्पष्ट देख पायेंगे।

यह ठीक है कि अहङ्कारकी आवाजको सर्वथा शान्त कर देना सहज नहीं और यह हुए बिना प्रभुके सङ्केतको भी स्पष्ट सुन लेना सम्भव नहीं। पर इस दिशामें हमारा प्रयत्न भी तो हो। उनकी ओरसे आयी हुई प्रेरणाको ग्रहण करनेके लिये हमारा मन उन्मुख तो हो। हम अपनी प्रत्येक चेष्टाके आरम्भमें उनकी ओर मुड़ें तो सही। हमारी इच्छा तो हो। उनके आदेशका अनुसरण करनेका निश्चय तो हमारी बुद्धिमें हो जाय। फिर तो उनकी ओरसे कुछ-न-कुछ, नहीं-नहीं पर्याप्त प्रकाश मिलेगा ही। एक बार हम अपने सञ्चित संस्कारोंके प्रवाह (स्फुरणा) को रोक दें, मनको खाली कर दें, न खाली कर सकें, बरबस स्फुरणाएँ उठती ही रहें तो फिर प्रभुसे सम्बन्ध रखनेवाले विचारोंको, भावोंको मनमें भरना आरम्भ कर दें, प्रभुके स्मरणसे चित्तको पूरित करने लग जायँ। इससे यह होगा कि अहङ्कार रहनेपर भी चित्तमें प्रभुके दिव्य सन्देशका स्पन्दन आरम्भ हो जायगा। कदाचित् अपने एवं प्रभुके बीचमें स्थित आवरणकी घनताके कारण हमें उस स्पन्दनकी अनुभूति न हो अथवा इतनी अस्पष्ट हो कि हम ठीक-ठीक उसे समझ न पायें, प्रभु क्या चाहते हैं, उनकी क्या आज्ञा है, यह स्पष्ट निर्णय हम नहीं कर पायें तो भी हमारा काम तो हो ही जायगा। वह इस रूपमें कि हमारे अनजानमें ही हमारे चित्तकी, बुद्धिकी, इन्द्रियोंकी गति उसी ओर हो जायगी, जिस ओर प्रभु हमें ले जाना चाहते थे। तथा उस ओर गति होनेपर हमारे लिये उलझन नहीं रहेगी, हम क्या करें, क्या नहीं करें—यह उधेड़-बुन नहीं रहेगी। अपने-आप स्वाभाविक ही हम जिस ओरसे हटना चाहिये, हट जायँगे। जिधर चलते रहना चाहिये, चलते रहेंगे।

ईर्ष्याकी आग फिर हमें नहीं जलायेगी, 'हाय रे, हमने इतना ही कमाया, उसने इतने कमा लिये; हमारी पूछ नहीं, उसका सभी आदर करते हैं; हम पीछे रह गये, वह आगे बढ़ गया, वह गिर क्यों नहीं पड़ता'—ये कलुषित भावनाएँ हमें छू नहीं सकेंगी। दूसरेके दोषोंकी आलोचना कर अपना मन गन्दा करनेकी प्रवृत्ति हममें नहीं होगी। 'हम ठीक हैं, अन्य सभी भ्रान्त हैं'—यह गर्व हमारे अन्दर नहीं आयेगा। सबको निर्मल कर देनेका बीड़ा हम कदापि नहीं उठायेंगे। अपने विपक्षीकी बातका भी हम यथायोग्य आदर करेंगे। अपने अन्दरका छोटे-से-छोटा दोष भी सामने आने लगेगा। उसे धोनेमें ही हम इतना व्यस्त हो जायँगे कि दूसरोंमें कहीं मैल है भी यह स्मृति लुप्त हो जायगी। अपनी स्थितिके सम्बन्धमें हमें भ्रान्ति नहीं होगी, वास्तवमें हम कहाँ हैं, उसका ज्ञान हमें बना रहेगा; भूलकर भी हम हवाई किलेमें राजा बनकर सैर करने न जायँगे; मलिनतासे भरे रहनेपर भी देवता-महात्मा होनेका भ्रम हमारे अन्दर कभी नहीं आयेगा। प्रत्येक चेष्टाके आरम्भमें—चाहे वह कितनी भी नगण्य-सी चेष्टा क्यों न हो—प्रभुकी प्रेरणा, इच्छा-आदेशके साँचेमें हमारी बुद्धि, मन, इन्द्रियोंके ढल जानेपर ये बातें हममें निश्चित रूपसे होंगी ही। ये नहीं हों, इनसे विपरीत हों तो समझ लेना चाहिये कि हमारी चेष्टा प्रभुकी प्रेरणासे परिचालित नहीं है। अपितु हम अहङ्कारकी आवाजसे नियन्त्रित होकर पीछेकी ओर नीचे गिरते जा रहे हैं। जितनी शीघ्रतासे हम चेतेंगे, उतना ही अधिक हमारा एवं जगत्का लाभ होगा। जितनी अधिक देर लगेगी उतनी ही अधिक मात्रामें हमारा एवं जगत्के ध्वंसका मार्ग प्रशस्त होगा।

किन्तु अभी हमारी दशा तो यह है—

मारग अगम, संग नहिं संबल, नाउँ गाउँ कर भूला रे।

अत्यन्त कठिन मार्गसे हम चल रहे हैं, पासमें पथके लिये पाथेय (राहखर्च) भी नहीं है और सबसे बड़े मजेकी बात तो यह है कि हमें

जिस गाँवमें जाना है, उसका नामतक हम भूल गये हैं। मार्ग कठिन इसलिये कि हमारे चारों ओर विषयोंके झाड़-झङ्खाड़, पर्वत, वन भरे पड़े हैं, क्षण-क्षणमें हम रास्ता भूल रहे हैं। प्रभुकी स्मृतिरूपी पाथेय भी नहीं, जो हमारे श्रान्त मन, इन्द्रिय, प्राणोंमें पुनः-पुनः नवशक्तिका सञ्चार करता रहे और सबसे अधिक चिन्ताकी बात तो यह है कि हम मानव-जीवनके उद्देश्यको ही भूल गये हैं। प्रभुकी प्राप्ति ही हमारे जीवनका एकमात्र उद्देश्य है, वहीं हमें जाना है, हमें इस बातकी ही विस्मृति हो गयी है। ऐसी अवस्थामें प्रत्येक कार्यका आरम्भ करते समय प्रभुका सङ्केत ग्रहण करनेकी वृत्ति हमारे अन्दर जाग उठे, हम उसके लिये प्रयास करें यह सम्भावना कहाँ? हाँ, किसी अनिर्वचनीय सौभाग्यवश यदि दुःखोंसे छूटनेके लिये भी हम प्रभुको पुकार सकें, सच्चे सरल हृदयसे अपनी यह विनय सुना सकें—'नाथ! अब तुम्हीं आगे ले चलो'—

तुलसिदास भव-त्रास हरहु अब होहु राम अनुकूला रे।

—ऐसी सच्ची भावना दुःखके समय ही हमारे अन्दर जाग उठे तो भी जीवनके अन्ततक हम कृतार्थ हो जायँ। इसमें तनिक भी सन्देहके लिये स्थान नहीं। दुःखमें की हुई प्रत्येक पुकार हमारे एवं प्रभुके बीचमें स्थित पर्देको क्रमशः फाड़ती ही जायगी। प्रभुके साथ किया हुआ क्षणभरका सम्बन्ध भी हमारे मन, प्राण एवं इन्द्रियोंमें अपनी छाप—स्थायी प्रभाव छोड़ जायगा। किसी दिन प्रबल दुःखको निमित्त बनाकर प्रभुको पुकारते समय कोई ऐसा भरपूर धक्का लगेगा कि आवरण छिन-भिन्न हो जायगा। उसीके साथ हमारे अहङ्कारकी आवाज भी शान्त हो जायगी, और तब वास्तवमें हम प्रभुका आदेश अत्यन्त स्पष्टरूपसे सुननेमें समर्थ हो सकेंगे। उस समय हमारा जीवन कुछ और ही होगा।

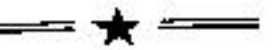

विचारोंका संयम

कभी-कभी हमारे मनमें रहनेवाले विचारोंसे इतना भारी अनर्थ हो जाता है कि जिसकी हमें कल्पनातक नहीं होती। मान लीजिये—हम बाजार चले। उसी रास्तेमें सड़कपर दो व्यक्ति लड़ रहे हैं। उन्हें लड़ते देखकर हम खड़े हो गये। बिना बोले चुपचाप कुछ देरतक उनको लड़ते हुए देखते रहे। इस देखनेका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि हम उन दोनोंमेंसे किसी एकके प्रति मन-ही-मन झुक पड़े; एकका पक्ष हमें अपेक्षाकृत ठीक एवं दूसरेकी भूल दीखने लगी। हमारे अन्दर भी क्रोधके परमाणु थे, जो प्रायः रहते हैं ही; परिणाम यह हुआ कि हमें जिसकी भूल दीखती थी, उसके प्रति हमारे मनमें भी क्रोधका सञ्चार हो गया। हमारा उन दोनों व्यक्तियोंमें किसीसे भी कोई सम्बन्ध नहीं था, फिर भी मन-ही-मन हम गरम हो उठे और उसके प्रति क्रोधसे सने विचार उत्पन्न होने लगे। इतनेमें दीखा कि हमने जिसका मन-ही-मन पक्ष लिया था, उसने अपने प्रतिपक्षीके सिरपर जोरसे लाठी जमा दी और उसका सिर फट गया। लोग दौड़ पड़े, पुलिस भी आ गयी। हमें भी प्रतीत हुआ कि आह! यह तो बुरा हुआ तथा यह सोचते हुए हम अपने रास्ते चले गये। पुलिसने मारनेवालेको चालान कर दिया; क्योंकि प्रत्यक्ष था कि उसने एकका सिर फोड़ा है। उसे सजा भी हो गयी।

किन्तु इस घटनामें एक बात ऐसी हुई है जिसे किसीने नहीं जाना। वह बात पुलिसकी रिपोर्टमें नहीं आयी, हमने भी नहीं जाना। वह बात यह है कि वास्तवमें सिर फोड़नेका अपराधी वह अकेला ही नहीं है, जिस बेचारेको सजा हुई है, हम भी हैं। यह सुनकर हम भले चकरा

उठें, पर बात बिलकुल सच्ची है। हमारे न जानने न माननेपर भी जनताके द्वारा सज्जन पुरुष होनेका प्रमाणपत्र पा लेनेपर भी, यह बात सच्ची ही रहेगी।

इसको ठीकसे समझनेके लिये इस प्रकार विश्लेषण करें—दोनों लड़ रहे थे, दोनोंमें ही क्रोध था, किन्तु जिसने सिर फोड़नेका अपराध किया है, उसमें पहले क्रोधकी मात्रा इतनी, ऐसी नहीं थी कि वह लाठी मारनेकी क्रियामें हेतु बन सके। इस क्रियाके लिये जितना क्रोध जाग्रत् होना चाहिये, उतना उसमें हमारे वहाँ जानेसे पूर्व अवश्य ही नहीं था। दुर्दैवयोगसे हम वहाँ जा पहुँचे। हमने उसका मन-ही-मन पक्ष लिया। हमारा क्रोध उभड़ा और उसने वहाँ उसके पास जाकर जितनी कमी थी, उसकी पूर्ति कर दी। लाठी मारनेके लिये जितना क्रोध उसमें घट रहा था, उतना हमने अपनी ओरसे उसे दे दिया और उसने लाठी मार दी। दूसरे शब्दोंमें लाठी मारनेकी जो क्रिया हुई है, वह हमारे क्रोधसे सम्पन्न हुई है। यदि हम वहाँ न जाते, जाकर यदि शान्त-सुस्थिर बने रहते तो उसके क्रोधको बल नहीं मिलता तथा यह क्रिया न घटती। उसके पास तो इतना ही क्रोध था कि खूब बकने-झकनेमें ही वह उलझा रहता। पर हमारे अन्दरकी आग उसके पास बिना किसीको दीखे जा पहुँची और उसने उसके द्वारा यह कुकृत्य करवा दिया। फिर हम भी अपराधी कैसे नहीं हुए?

सोचकर देखेंगे तो पता चलेगा कि अनजानमें ही हमारे द्वारा प्रतिदिन न जाने ऐसी कितनी घटनाएँ घटती हैं, कितनी बार ऐसे अलक्षित अपराध बनते रहते हैं। तथा ठीक इससे विपरीत, यदि हमारे शुभ विचार हैं तो उनसे हमारे बिना जाने ही कितनोंकी सेवा हो जाती है। जैसे हम किसी व्यक्तिसे मिलने गये। वहाँपर एक और कोई दुःखी

व्यक्ति बैठा है, अपनी दुःख-गाथा सुना रहा है। हम भी सुनने लगे। सुनते-सुनते हमारे मनमें सहानुभूति उत्पन्न हुई, हृदय करुणासे भर आया, मनमें आया कि इनकी सहायता अवश्य होनी चाहिये। इतनेमें वह व्यक्ति, जिससे हम मिलने गये थे, दुःखीको सान्त्वना देते हुए कह उठा—'आप चिन्ता न करें, आपका काम मैं अभी कर देता हूँ।' तथा उसने वह काम तुरन्त कर भी दिया। अब यहाँ हमने अपने मुँहसे उसकी कोई भी सिफारिश नहीं की, अपनी जानमें उसकी सहायता करनेकी कोई चेष्टा भी न की। पर वास्तवमें अभी-अभी जो उसकी सहायता हुई है, उसमें हमारा भी भाग है। हमारे आनेसे पूर्व उस व्यक्तिमें सद्भावना अवश्य थी, पर इतनी मात्रामें नहीं थी कि वह तुरन्त सक्रिय रूप धारण कर ले; किन्तु हमारी मनोगत सहानुभूति और करुणाने उसके मनको स्पर्श कर लिया, सक्रिय सहायताके लिये जितनी सहानुभूति और करुणा घट रही थी उसकी पूर्ति हो गयी! बस, काम हो गया। लोगोंको भले ही इसका पता न लगे, जिसकी सहायता हुई, जिसने की वे दोनों भी न जानें, हमें भी कल्पना न हो कि हमने भी कुछ किया है, पर असलमें वह सेवा सम्पन्न हुई है हमारी सद्भावनासे। हमारी प्रबल सहानुभूतिका बल उसे यदि उस समय नहीं मिलता तो सम्भवतः उसकी सद्भावना तुरन्त सक्रिय रूप धारण नहीं करती।

और भी व्यापक दृष्टिसे इस बातपर विचार करें। कल्पना कर लें, दो देशोंमें युद्ध हो रहा है। वे देश हमसे हजारों कोस दूर हैं। आँखोंसे हमने उन देशोंको देखा नहीं। केवल समाचारपत्रोंसे ही युद्धकी घटना पढ़ते-सुनते हैं। पर कुछ ही दिनोंमें यह परिणाम होता है कि एकके प्रति हमारे मनमें पक्ष हो जाता है। हम एककी विजय चाहने लगते हैं और दूसरेकी पराजय। उसकी विजय सुनकर हमारे मनमें उल्लास होता है,

पराजय सुननेपर हृदयमें ठेस लगती है। अब यदि यह कहा जाय कि वहाँकी वैमनस्यकी आग उत्तरोत्तर प्रज्वलित करते रहनेमें युद्धसे होनेवाले भयङ्कर नरसंहारमें हम भी योगदान कर रहे हैं, तो इसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं है। हम यह कह भले ही दें कि 'हमारा क्या सम्बन्ध है, हम तो अखबार पढ़ते हैं तथा फिर जैसा ठीक लगता है, कह देते हैं।' पर बात ऐसी नहीं है। सचमुच हमारे द्वारा अनजानमें ही उस पापमें योगदान दिया जा रहा है, अनेकोंकी जान लेनेमें हम भी सहायता कर रहे हैं। यह सदा ध्यानमें रखनेकी बात है कि जगत्‌में जो भी घटनाएँ घटित होती हैं, उनमें यदि हमारे विचार अच्छे हैं, तो अच्छीके साथ, बुरे हैं तो बुरी घटनाके साथ हमारा न्यूनाधिक कुछ-न-कुछ निश्चित सम्बन्ध है ही। यहाँकी घटना वस्तुतः है ही हमारे मनके विचारोंका मूर्तरूप। दो महायुद्ध हुए। ये क्या थे ? बस, जहाँ-जहाँ द्वेषपूर्ण विचार थे, सब एकत्र हो गये और वे ही भीषण नरसंहारके रूपमें प्रकट हो गये। ऐसे ही जगत्‌में जहाँ-जहाँ सद्विचार हैं, वे एकत्र होते हैं, तो फिर उनसे प्रेम, शान्ति-सुख बढ़ानेवाली घटनाओंका विस्तार होता है। हमारे अन्दर यदि तनिक भी बुरे विचार हैं तो वे अपनी शक्तिके अनुसार निकट एवं दूर बुरी घटना घटनेमें हेतु बनेंगे तथा हमारा तनिक-सा सद्विचार समीप एवं दूरके वातावरणमें शुभकी सृष्टिमें सहायक बनेगा।

इसीलिये आज जब कि सर्वत्र दुःख, अशान्ति बढ़ रही है, घृणा द्वेषमूलक घटनाओंकी संख्या बढ़ती जा रही है, ऐसे समयमें हमें अपने विचारोंके संयमकी अत्यधिक आवश्यकता है। अन्यथा हम घर बैठे-बैठे अखबारोंको पढ़-पढ़कर, रास्ते चलते हुए किसी घटनाको देख-सुनकर अलक्षित अपराध करते रहेंगे, जिसका परिणाम हमारे लिये, विश्वके लिये और भी अत्यन्त भयावह होगा। ऐसा न हो, इसके लिये

हमारे मनमें असद्विचार उत्पन्न होनेकी सम्भावना ही न रहे, निरन्तर परम शुभसे मन पूर्ण रहे, ऐसी स्थिति हमें उत्पन्न करनी पड़ेगी।

यों तो इसके लिये मनीषियोंने अनेक उपाय बताये हैं, पर सर्वोत्तम उपाय है, अपने मनसे जगत्‌की कल्पनाको ही मिटा देना तथा जगत्‌के स्थानपर सदा-सर्वत्र एकमात्र आनन्दमय प्रभुकी सत्ताके ही दर्शन करना। यह हुआ कि फिर असद्विचारकी जड़ ही कट जायगी। सर्वत्र भगवद्भाव हो जानेपर जानमें, अनजानमें कभी किसी प्रकारका अपराध हमसे घट नहीं सकता। हमारे द्वारा जो अशुभका विस्तार होता है, अशुभको प्रेरणा मिलती है, वह फिर होनेकी ही नहीं। फिर तो परम शुभ प्रभुमें प्रतिष्ठित होकर हम सदा सबमें शुभका ही वितरण करते रहेंगे।

वास्तवमें सच्ची बात भी यही है कि जहाँ हमें जगत् दीखता है वहाँ सर्वत्र-सर्वथा प्रभु-ही-प्रभु भरे हैं, उनके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। पर हमें ठीक-ठीक ऐसी ही अनुभूति हो तब काम बने। इस अनुभूतिके लिये यह आवश्यक नहीं कि हम खूब पढ़े-लिखे हों। दर्शनशास्त्रका हमारा गम्भीर अध्ययन हो, कई कलाओंके मर्मज्ञ हों, अमुक देशके वासी और अमुक वर्ण-जातिके ही हों। इसके लिये तो आवश्यकता इतनी ही है कि एक तो हमारा इस सिद्धान्तपर सरल विश्वास हो, हमारी बुद्धि इसको असंदिग्ध और निश्चित रूपसे स्वीकार करती हो कि एकमात्र प्रभु ही सर्वत्र अवस्थित हैं, और दूसरी बात यह है कि हम इस भावकी बार-बार आदरपूर्वक, अधिक-से-अधिक आवृत्ति करते रहें। लगनपूर्वक की हुई आवृत्ति कुछ ही दिनोंमें हमारी बुद्धिके निश्चयको मनमें उतार देगी तथा प्रयत्न जारी रहनेपर इन्द्रियोंको भी इस सत्यकी अनुभूति होते देर नहीं लगेगी। किन्तु प्रयत्न हो तब न? यहाँ तो *'कुएँ भाँग पड़ी'* की कहावत चरितार्थ हो रही है। आज

समष्टिकी ही प्रवृत्ति प्रायः प्रभुको भूले रहनेकी बन गयी है। हम अधिकांश ऐसे बन गये हैं कि आनन्दस्वरूप प्रभुको भूलकर सुख पानेकी लालसासे दिन-रात जागतिक विषयोंके, जो अनित्य और दुःखमय हैं, पीछे ही दौड़ते रहते हैं, इससे सुख तो हमें कभी मिलता नहीं, पद-पदपर दुःख मिलता है, अच्छी तरह जान लेते हैं कि उनसे सुख मिलनेका नहीं, पर जानकर भी नहीं जान पाते, उन्हें छोड़ना तो दूर उत्तरोत्तर उन्हींमें उलझते जाते हैं। अनादि संस्कारोंसे मनपर मलिनताकी मोटी तह जमा हो गयी है, कभी हमारे विवेकका द्वार खुलता ही नहीं कि जिसके छिद्रसे प्रभुके निर्मल प्रकाशकी किरणें हमारे अन्दर प्रवेश कर सकें, क्षणभरके लिये भी हमें भान नहीं होता कि हमारा कल्याण एकमात्र परम पिता प्रभुसे ही सम्भव है। उन्हें अपने हृदय-मन्दिरमें पधरानेकी वासना ही हममें कभी नहीं जागती, उनसे जुड़नेके लिये हमारा मन कभी लालायित ही नहीं होता। वहाँ तो निरन्तर जागतिक विषयोंके अभावकी आग ही धधकती रहती है। विषयोंकी प्यास कभी शान्त होती ही नहीं, इन्हें एकत्र करनेमें ही जीवन समाप्त हो जाता है, यों कह दें, जीवनभर तालाब खोदते बीत जाता है, पर पानीकी बूँद एक भी नहीं मिलती, प्यास तनिक भी नहीं बुझती—

कबहूँ मन बिश्राम न मान्यो।
निसिदिन भ्रमत बिसारि सहज सुख, जहँ-तहँ इंद्रिन तान्यो॥
जदपि बिषय-सँग सह्यो दुसह दुख, बिषम जाल अरुझान्यो।
तदपि न तजत मूढ़ ममताबस, जानतहूँ नहिं जान्यो॥
जनम अनेक किये नाना बिधि, करम-कीच चित सान्यो।
होइ न बिमल बिबेक-नीर-बिनु, बेद-पुरान बखान्यो॥

निज हित नाथ पिता गुरु हरिसों हरषि हृदै नहिं आन्यो।
तुलसिदास कब तृषा जाय सर खनतहिं जनम सिरान्यो॥

ऐसी हमारी गिरी दशा है। अब हो तो क्या हो! फिर भी यदि हमारा विवेक सर्वथा मर नहीं गया हो, हममें यदि प्रभुके प्रकाशकी क्षीण रेखा भी वर्तमान हो, यदा-कदा भी प्रभुकी स्मृति किसी भी बहानेसे हमारे अन्तःकरणमें जाग उठती हो, जगत्‌में सुख-शान्ति बढ़े, यह शुभ भावना कभी उत्पन्न होती हो तो हमें सावधान होकर अपने विचारोंका संयम करना चाहिये, विकारोंका दमन करनेके प्रयासमें लगना चाहिये। हम तत्परतासे सर्वत्र प्रभुको देखनेका अभ्यास आरम्भ करें। फिर निश्चय ही विकार शान्त होने लगेंगे; शुभ भावनाएँ बढ़ने लगेंगी। घरमें माता-पिता, स्त्री-पुत्र, भाई-बन्धु, नौकर-चाकर आदि जो भी हों; गाय, घोड़े, कुत्ते आदि पशुओंमेंसे जो भी हमारे आश्रयमें पलते हों तथा बाहर दूकान, पाठशाला, कार्यालय, कचहरी, अस्पताल, बाग-बगीचे, खेत, जङ्गल, नदी, तालाब, कुआँ, खेलके मैदान आदि स्थानोंपर जहाँ कहीं भी जिस किसीके भी सम्पर्कमें आनेका हमारा काम पड़ता हो, उन सबमें हम प्रभुको देखनेका अभ्यास करें। प्रभु ही इस रूपमें हमारे समक्ष उपस्थित हैं, ऐसी भावना करें, इस भावनाकी बारम्बार आवृत्ति करें। फिर हमारी तत्परताके अनुरूप सफलता हमें मिलेगी ही। यदि यह भावना सक्रिय होगी तब तो फल प्रकट होनेमें बहुत ही कम समय लगेगा। सक्रियका अर्थ यह कि भावना यथासम्भव व्यवहारमें उतरे। जैसे पड़ोसका कोई एक व्यक्ति हमारे पास आवे। आते ही हमने भावना की कि प्रभु पधारे हैं। पर इतनेमें ही उसने हमसे किसी वस्तुकी याचना कर दी। वह वस्तु हमारे पास है भी, हमारी आवश्यकतासे अधिक भी है; हम यह भी जानते हैं कि उसे इस

वस्तुकी जरूरत है। पर अपने अन्दर संग्रहकी वृत्ति होनेके कारण अथवा अनुदारताका दोष रहनेके कारण हम देनेमें हिचकिचा जाते हैं या देकर अनुत्साह-पश्चात्तापका अनुभव करते हैं अथवा कुछ दिनोंके बाद दी हुई वस्तुके लिये उसपर अहसान करते हैं तो यहाँ उस पड़ोसीके प्रति की हुई भगवद्भावना सक्रिय नहीं हुई। यदि उसकी याचना सुनकर मन उल्लाससे भर जाता है, यह भावना आती है कि 'नाथ ! तुम्हारी कितनी कृपा है जो हमें अपनी सेवाका अवसर देने आये हैं।' तथा यदि वह पड़ोसी कृतज्ञतावश हमारी इस सेवाकी कहीं चर्चा कर दे तो हम सङ्कोचसे गड़ जायँ—हमारी ऐसी दशा है तो वह भावना सक्रिय हुई। थोड़ेमें कहनेपर यह कि हमारे पास जो कुछ है, उसे यथासम्भव, यथायोग्य विश्वरूप प्रभुकी सेवामें लगाकर हम हर्षित हों, उत्तरोत्तर हमारा मन कृतज्ञतासे भरता जाय। तब तो हमारी की हुई प्रभु-भावना सक्रिय है। अन्यथा वह प्रेरणात्मक विचारमात्र (Suggestion) ही है। नहींकी अपेक्षा तो विचारमात्रकी भगवद्भावना भी बहुत सुन्दर है। इससे भी अशुभ विचारोंके प्रवाहमें बड़ी रोक लगती है। पर सच्चा एवं पूरा-पूरा तथा शीघ्र-से-शीघ्र फल तो सक्रिय भावनासे ही प्राप्त होता है।

विकारोंका दमन होनेमें, विचारोंका संयम होनेमें उपर्युक्त उपाय अमोघ है। पर कदाचित् कोई इसपर श्रद्धा न कर सके तो उसे भी अपने एवं जगत्के हितके लिये कम-से-कम दो बातें अवश्य करनी चाहिये—

(१) कोई शुभ भाव, जो सबसे अधिक प्रिय हो, अपने मनके पीछे सदा रखे तथा उस भावके सूचक किसी वाक्यको मन-ही-मन जागनेसे सोनेतक—जब भी अवकाश हो अधिक-से-अधिक स्मरण करे, उसकी अधिक-से-अधिक आवृत्ति करे। जैसे सत्य बोलना प्रिय लगे तो इसका सूचक एक वाक्य '**सत्यं वदिष्यामि**' 'सदा सत्य

बोलूँगा'—इसको बार-बार स्मरण करे। प्रेम करना प्रिय हो तो 'मैं सदा सबसे प्रेम करूँगा!' यह बार-बार स्मरण करे। बार-बार स्मरण करनेका यह परिणाम होगा कि मनमें इसकी आवृत्ति करनेकी आदत पड़ जायगी तथा जब कभी भी हमारा मन खाली होगा, उस समय इस भावका जाप शुरू हो जायगा। और शुभ भावोंकी आवृत्ति होते समय अन्य असद्भाव एवं विकारोंके प्रवेशके लिये अवकाश कम रह जायगा। इस प्रकार जगत्‌में शुभको बढ़ाने एवं अशुभकी मात्रा घटानेमें हम हेतु बनेंगे।

(२) हम किसी समय निकम्मे नहीं रहें। कुछ-न-कुछ सत्-प्रवृत्तिमें ही यथासम्भव मन एवं शरीर दोनों लगे रहें। निठल्ले मनमें असद्विचारके प्रवेशके लिये बहुत अधिक, शुभ विचारके लिये बहुत कम सम्भावना रहती है।

एक सन्तने कहा है—

'यदि भला न कर सको तो बुरा करनेसे तो बचो।' यह वचन हमारे लिये बहुत महत्त्वका है। शुभका विस्तार यदि हम न कर सकें तो बुराईको तो रोके ही रहें। इसीलिये विचारोंका संयम परम आवश्यक है।

मनकी सँभाल

जहाँ हमारा मन है, वहीं हम हैं। भले ही हम मन्दिरमें—उपासनागृहमें ही क्यों न बैठे हों, पर यदि हमारा मन कहीं और है—शेयरबाजारमें चक्कर काट रहा है, शेयरके भावोंकी विवेचना कर रहा है, ले-बेच रहा है; घर, दुकान, आफिस, होटल, क्लब, थियेटर आदिका चिन्तन कर रहा है—तो हम उस समय सचमुच मन्दिरमें नहीं, अपितु हमारे चिन्तनके विषयभूत उन-उन स्थानोंमें ही विचर रहे हैं। यह सर्वथा सत्य सिद्धान्त है।

यों तो शरीरसे भी शुभ स्थानपर, शुभ वातावरणमें रहना परम मङ्गलकारी है ही, पर जबतक हमारा मन उसे ग्रहण नहीं करता, तबतक हमारी स्थिति नहीं बदलती, नहीं बदल सकती। हमारी उपासना तभी सच्ची उपासना बनेगी, जब उसमें शारीरिक क्रियाविशेषका नहीं, मनका संयोग होने लगेगा। प्रभुके सामने घुटने टेककर हाथ जोड़कर या किसी आसनविशेषसे बैठकर प्रार्थना करनेकी मुद्रा बड़ी सुन्दर है, पर हमारी प्रार्थना सच्ची तो तब होगी, जब हमारा मन सब ओरसे सिमटकर प्रभुमें ही केन्द्रित होने लगेगा। इसीलिये बाहरी आचार-व्यवहारकी यथाशक्ति पूर्ण रक्षा करते हुए भी प्रधानतासे हमारी शक्ति लगनी चाहिये मनको सँभालनेमें। हमारा मन किस रूपमें हमारे सामने आ रहा है, क्या कर रहा है, अपने लक्ष्यको भूलकर कहीं अन्यत्र भटकने तो नहीं लगा है, इस सँभालकी अत्यधिक आवश्यकता है।

निरन्तर प्रभुका ही चिन्तन होने लग जानेपर तो सँभालका प्रश्न स्वतः समाप्त हो जाता है; किन्तु जबतक क्षणभरके लिये भी मन

विषयाकार होता है, तबतक सावधान रहनेकी आवश्यकता है। हममें भोगोंकी कामना होती है; हम सङ्कल्प करते हैं, अमुक वस्तु है या नहीं, इस प्रकार किसी विषयमें हमें सन्देह होता है। जो वस्तु प्रत्यक्ष नहीं है, उसके विषयमें भी हम पढ़-सुनकर विश्वास कर लेते हैं कि यह वस्तु निश्चित रूपसे ऐसे है ही अथवा किसी अप्रत्यक्ष वस्तुके प्रति हमारे मनमें सर्वथा अविश्वास रहता है कि वह है ही नहीं; हममें धृतिकी वृत्ति रहती है, इससे विपरीत व्याकुलताका भाव भी रहता है; विविध परिस्थितियोंमें लज्जाकी वृत्ति जाग उठती है; निश्चय कर लेनेकी वृत्ति-बुद्धि भी हममें है; और हमें भय भी होता है। ये सब क्या हैं। इन सब रूपोंमें हमारा मन ही तो व्यक्त हो रहा है—

कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धाधृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भिरित्येतत्सर्वं मन एव। *

अब इन्हीं वृत्तियोंमें, इन्हीं भावनाओंमेंसे यदि हम यथायोग्य किन्हींकी दिशा बदल दें, बदले ही रखें,उनपर प्रभुका रङ्ग चढ़ा दें और किन्हींको शान्त कर दें तो बस, मनकी सँभाल हो गयी। अतएव आइये, इसी उद्देश्यसे यहाँ हम काम—सङ्कल्प आदि मनके स्वरूपोंपर क्रमशः संक्षेपमें कुछ विचार करें।

हमें भोगोंमें कामना क्यों होती है? इसीलिये तो कि हमें उनसे सुख प्राप्त होनेकी सम्भावना दीखती है। फिर क्यों नहीं हम उस वस्तुकी ही कामना करें जो समस्त सुखोंका केन्द्र है, जो समस्त विश्वको सुखका दान करता है, जिस सुखपर ही विश्वके समस्त प्राणियोंका जीवन अवलम्बित है। वह वस्तु तो एकमात्र प्रभुका स्वरूप है। वे प्रभु ही

* बृहदारण्यकोपनिषद् १।५।३

विश्वको आनन्दका दान करते हैं, '**एष ह्येवानन्दयति।**' * उनके आनन्दका ही किञ्चित् अंश लेकर विश्वके अनन्त प्राणी जीवन धारण करते हैं।

'**एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।**' †

हम यदि प्रभुको ही चाहने लगें, अपनी कामनाकी दिशा बदल दें, जगत्की ओरसे मोड़कर उसे प्रभुकी ओर कर दें, जितनी बार जिस किसी वस्तुके लिये भी कामना उत्पन्न हो, उतनी बार हम उसे प्रभुकी कामनासे ढक दें, हमें तो एकमात्र प्रभु मिल जायँ, उनके अतिरिक्त हमें और कुछ नहीं चाहिये, इस कामनासे ही जगत्की अन्य समस्त कामनाओंको तत्परतापूर्वक सम्पुटित करते जायँ तो फिर मनको धो देनेका कार्य आरम्भ हो गया, उसके 'काम' रूपकी सफाई होने लगी—विषयाकारसे वह प्रभुके आकारमें परिणत होने लगा।

सङ्कल्पके प्रवाहको भी हम प्रभुकी ओर कर दें अथवा इसके स्रोतको ही बन्द कर दें। इसके लिये भी उपाय बड़ा सरल है; किन्तु तत्परता एवं अभ्यास यहाँ भी अपेक्षित है ही। जितनी स्फुरणाएँ उठें, उन्हें हम प्रभुको समर्पित करते चले जायँ। 'नाथ ! यह तुम्हें समर्पित है', इस भावनाकी पुट प्रत्येक स्फुरणामें लगा दें। इसका निश्चित परिणाम यह होगा कि नवीन स्फुरणाएँ प्रभुसे सम्बद्ध होकर ही उठेंगी। अथवा हम यह करें कि स्फुरणाओंके द्रष्टा बन जायँ। क्या स्फुरणा हो रही है, हमारा मन क्या कर रहा है, इसे हम स्फुरणाओंसे, मनसे अलग होकर देखने लगें, फिर निश्चय ही स्फुरणाओंका वेग शान्त होने लगेगा, क्रमशः सर्वथा शान्त हो जायगा तथा इस प्रकार प्रभु एवं हमारे बीचका

---

* तैत्तिरीय० २।७

† बृहदारण्यक० ४।३।३२

एक बहुत गहरा आवरण नष्ट हो जायगा।

सन्देहके रूपमें भी हमारा मन ही है। यदि यह सन्देह जागतिक विषयोंको लेकर है तो इसमें विशेष हानि नहीं है, पर यदि यह प्रभुकी सत्ताके सम्बन्धमें है तो इसे तुरन्त ही नष्ट कर देना चाहिये। इसे नष्ट करनेका सर्वोत्तम साधन यह है कि जिनका हृदय प्रभुके आलोकसे आलोकित हो चुका है, ऐसे किसी सन्त महापुरुषका हम सरलभावसे आश्रय ग्रहण कर लें, उनके सङ्गमें रहने लगें। अनिवार्य आवश्यकताकी वृत्तिसे ढूँढ़नेपर कोई-न-कोई महापुरुष हमें निश्चय ही मिलेगा और उसके सङ्गसे हमारे सन्देहकी निवृत्ति होकर ही रहेगी! इतना ही नहीं, हमारे सामने मनका एक निर्मल, सत्त्वपूरित रूप भी आ जायगा, प्रभुमें अडिग श्रद्धा उत्पन्न होगी और यह दृढ़ विश्वास हमारी समस्त विघ्न-बाधाओंको हर लेगा। फिर प्रभुसे मिलन होनेमें देर न लगेगी।

अश्रद्धा (अविश्वास) का प्रश्न कुछ टेढ़ा है। यदि प्रभुकी सत्तामें हमारा विश्वास नहीं, तब हमारे लिये तो सर्वत्र अँधेरा-ही-अँधेरा है। फिर तो जगत्के चकाचौंधमें पड़कर हम सर्वथा अन्धे हो जाते हैं। हमारे लिये फिर प्रभु नहीं, परलोक नहीं, फिर तो केवल यह प्रत्यक्षका स्थूल जगत् एवं जगत्के भोग ही रह जाते हैं। हमारा वर्तमान जीवन ही हमारे लिये अथ एवं इति बन जाता है। वर्तमान जगत्में इसीका बोलबाला है। प्रायः सर्वत्र सभी क्षेत्रोंमें हमें अश्रद्धाका नग्न नृत्य देखनेको मिलता है। इसकी ओषधि भी मुख्यतया एक ही है और वह है प्रभुके परम मङ्गलमय अचिन्त्य विधानसे आये हुए भीषण दुःखोंके थपेड़े। इसकी चोट खानेपर ही हमारी बुद्धि ठिकाने आती है। तभी हम निश्चय कर पाते हैं कि प्रभु हैं एवं जीवनका उद्देश्य जगत्के नश्वर भोग

नहीं एकमात्र प्रभुकी प्राप्ति है। तब कहीं जाकर प्रभुकी ओर हमारी गति होती है।

धृतिके रूपमें व्यक्त होनेवाले मनकी भी सँभाल करनेकी आवश्यकता है। हमारी धृति सात्त्विक है, राजस है या तामस—इसे हम अच्छी तरह परख लें। यदि हमारी धृति एकमात्र प्रभुकी प्राप्तिको लक्ष्य बनाकर ही हममें जागरूक है तो वह सात्त्विक धृति है; जागतिक वैभव एवं उनसे प्राप्त होनेवाले सुखको लेकर है तो वह राजस है; पर कहीं निद्रा, तन्द्रा, शोक, विषाद, गर्व आदि तामसिक भावोंको दृढ़तापूर्वक पकड़े रहनेमें ही हेतु बन रही है तो यह निश्चय ही तामस है। यह परख कर लेनेके बाद हमें राजस, तामस धृतिको तो शीघ्र-से-शीघ्र छोड़ देना है। ग्रहण करनेयोग्य, प्रश्रय देनेयोग्य धृति तो केवल सात्त्विक धृति ही है, जो हमें प्रभुके द्वारतक ले जाती है।

जागतिक वस्तुओंको पानेके लिये तो हममें कई अवसरोंपर बड़ी व्याकुलता होती है, पर प्रभुके लिये हमारा हृदय कभी नहीं रोता। यदि व्याकुलताको ही हम वरण करते हैं, हमें वरण करना है तो क्यों नहीं हम प्रभुके लिये ही रोवें ? इतना रोवें कि हृदयकी सारी मलिनता आँसू बनकर नेत्रोंके पथसे बाहर निकल जाय, हृदय निर्मल—स्वच्छ बन जाय, वहाँ प्रभुके निवास करनेयोग्य परिष्कृत और दैवीगुणोंसे सुसज्जित स्थान बन जाय और प्रभु उसमें आ विराजें।

जब हमारी भूल किसीको दीख जाती है, हमारा पाप प्रकट हो जाता है, तब हमें लज्जा होती है। इसलिये नहीं कि यह भूल हमसे क्यों हुई, ऐसा पाप हमसे क्यों बना, बल्कि इससे कि लोग जान गये, उनपर हमारी नीचता प्रकट हो गयी। यह लज्जा तो किसी कामकी नहीं। लज्जा होनी चाहिये पाप करनेमें, किये हुए पापोंको छिपानेमें,

कोई भी पाप बन जाय तो उसे प्रकट कर देनेमें हमने क्षणभरका भी विलम्ब क्यों कर दिया, इस बातमें। ऐसी लज्जा प्रभुको शीघ्र-से-शीघ्र आकर्षित करनेवाली बन जाती है।

बुद्धि भी सात्त्विकी, राजसी एवं तामसी हुआ करती है। प्रभुसे मिलन होनेका यह प्रवृत्तिमय मार्ग है, यह निवृत्तिमार्ग है, यह हमारा कर्तव्य है, यह अकर्तव्य है, हमारे लिये भयका कारण क्या है, हमें अभयपदकी प्राप्ति किन-किन उपायोंसे सम्भव है, हम संसारमें बँधे ही क्यों, इससे छूट कैसे जायँ—इन सब बातोंको जो बुद्धि ठीक-ठीक समझती है, वह सात्त्विकी है। धर्म, अधर्म, कर्तव्य, अकर्तव्यको यथार्थ रूपसे न समझनेवाली बुद्धि राजसी है। तथा जो बुद्धि उलटी माननेवाली हो, अधर्मको धर्म, अकर्तव्यको कर्तव्य, दुःखको सुख और अनित्यको नित्य समझती हो, सब कुछ विपरीत भावसे ग्रहण करती हो, वह तामसी है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि राजसी-तामसी बुद्धि तो हमें नीचे नरककुण्डमें ढकेलती है, एवं सात्त्विकी आनन्दमय प्रभुके चरणप्रान्तमें ले जाकर कृतार्थ कर देती है। अतः सात्त्विकी बुद्धि हमें क्षणभरके लिये छोड़ न दे, यह प्रयास सतत होना चाहिये; क्योंकि हमें तो प्रभुके समीप जाना है, हम जा रहे हैं तथा जिस रथपर सवार हुए हम जा रहे हैं, उसपर बुद्धि सारथि जो ठहरी।* यदि सारथि ही रथसे कूद जाय या उन्मत्त हो जाय तो रथ खड्ढेमें गिरेगा ही।

भय भी हमें अनेक निमित्तसे होता है, पर यह है सर्वथा मिथ्या। जब सर्वत्र एकमात्र आत्मस्वरूप प्रभु ही सदा विराजित हैं, तब भय किस बातका। अपनेसे अपने-आपको भय होता है क्या ? बिलकुल

---

* आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥

(कठ० १। ३। ३)

नहीं होता। अतः इस परम सत्यको स्वीकार कर हम भयकी वृत्तिको सदाके लिये कुचल दें। भय ही करना हो तो यह करें कि कहीं इस परम सत्यकी हमें विस्मृति न हो जाय, क्षणभरके लिये सर्वत्र पूर्ण एकमात्र प्रभुको छोड़कर हम किसी भी स्थानपर जगत्‌को न देखने लग जायँ। यह एक भय हमें प्रभुसे नित्य-से-नित्य संयोग करानेवाला बन जायगा, हमें सदाके लिये निर्भय कर देगा।

सबका सारांश यह है कि काम-सङ्कल्प आदि भावोंके रूपमें हमारा मन ही व्यक्त होता है। उन-उन अवसरोंपर सावधान रहकर हम मनको सँभालते रहें, क्योंकि मनकी स्थितिपर ही हमारी स्थिति निर्भर करती है। हम हैं प्रभुके सनातन अंश, हम भी हैं सच्चिदानन्दस्वरूप ही, पर इस मनके कारण ही इस स्थूल जगत्‌में भटक रहे हैं, प्रभुसे अलग होनेका हमें भ्रम हो रहा है। बस, इस मनको जगदाकारसे भगवदाकार बनानेभरकी देर है। फिर तो हम पुकार उठेंगे—

स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात्स पुरस्तात्स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वमिति × × × अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वमिति × × । आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति।

'वही (प्रभु) नीचे है, वही ऊपर है, वही पीछे है, वही आगे है, वही दायीं ओर है, वही बायीं ओर है और वही यह सब है। मैं ही नीचे हूँ, मैं ही ऊपर हूँ, मैं ही पीछे हूँ, मैं ही आगे हूँ, मैं ही दायीं ओर हूँ, मैं ही बायीं ओर हूँ और मैं ही यह सब हूँ। आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही ऊपर है, आत्मा ही पीछे है, आत्मा ही आगे है, आत्मा ही दायीं ओर है, आत्मा ही बायीं ओर है और आत्मा ही यह सब है।'